मूल्य-प्रक्रिया

मूल्य की उत्पत्ति के लिए द्वैत अनिवार्य है। 'एक' मूल्यातीत ही नहीं, निर्मूल्य होता है। 'एक' ही हो तो मूल्य-प्रक्रिया के लिए अवकाश ही नहीं होगा। एक अर्थात् पूर्ण। 'पूर्णता' मे मूल्यों की स्थिति तो दूर मूल्यीय चेतना भी नहीं हो सकती। मतलब यह है कि अपूर्ण मे पूर्णता की लालसा मूल्य-चेतना अर्थात् तत्सम्बद्ध प्रक्रिया का मूल है। द्वैत अपूर्ण है, क्योंकि द्वैत में एक और एक दो है। 'दो' मे समाहित इकाइयाँ अन्योन्याश्रित हैं, इसलिए अपूर्ण हैं और इसीलिए उनमे एक घनिष्ठ चेतन सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध पूर्णता की लालसा-पूर्ति का साधनभूत प्रयत्न है। यह प्रयत्न निश्चितत चेतनापरक है, पर यह सचेष्ट भी हो सकता है और अचेष्ट भी। यही सम्बन्ध अथवा प्रयत्न सब मूल्यों का मूलाधार है।

द्वैत किसी भी रूप मे हो, सम्बन्ध अनिवार्य है। यह पुरुष-प्रकृति (चेतन-जड) रूप हो अथवा पुरुष-पुरुष (चेतन-चेतन) रूप, सम्बन्धरहित नहीं हो सकता। हम 'सम्बन्ध' की बात करते है तो स्पष्टत 'सम्बन्ध' की बोधमय अवस्था है। फलत यह चेतना-व्यापार है। इसलिए आवश्यक है [illegible]

वर्तित है, जो उसे अनुभूति (संवेदन) प्रदान करती है। अनुभूति को इतना [illegible] और [illegible] को अनुभूति रूप में परिणत कर सकती है। [illegible] स्वाद स्पर्श रूप वर्तमान और भविष्य की [illegible] का [illegible], अनुभवों और इच्छा के संदर्भ में निर्मित करती है। चेतना का प्रत्यक्ष संपर्क वाले गुण-संविधान भी है जो चेतना के एकांतिक गुण का कारण होता है। इसलिए अथवा समूह की अभिलाषा या कामना से प्रेरित प्रत्यक्ष मूल्य बन जाता है अर्थात् इस कामना का केवल रूप स्वरूप, दशा, बदल ही जाता है। इसी चेतन-प्रक्रिया से धनात्मक अथवा ऋणात्मक मूल्यों का सर्जन होता है। ये मूल्य मनुष्य के आंतर व्यापार को संचालित ही नहीं करते, दिशा-बोधित भी करते हैं। चलाते ही नहीं, जिस ओर चलना है उधर भी चलाते हैं। इस तरह मूल्य-निर्माण में प्रत्यय-विधायिनी शक्ति (बुद्धि) सहायिका है, जबकि इसके मूल में कामना अर्थात् इच्छा। प्रत्यय जब निर्माण करते हैं तो वैज्ञानिक तथ्य या सिद्धान्त होता है। मूल-धर्मा मूल्य नहीं, सिद्धान्त-परीक्षण या तथ्य-परिशोधन ही है।

यह चेतना त्रिविध है। शरीर में स्थित है, अतः किसी-न-किसी रूप में यह शरीर अर्थात् इन्द्रियों से अन्वित है। स्थूल से सम्बन्ध-विधान इन्द्रियों के माध्यम से ही हो सकता है। किसी वस्तु का इन्द्रियों से सम्पर्क चेतना में कुछ अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाजन्य संवेदन उत्पन्न करता है। यही अनुभूति है। संवेदनों की अनुकूलता अथवा प्रतिकूलता इन्द्रिय-रचनाजन्य पर आधारित है। ये संवेदन अर्थात् अनुभूति की अनुकूलता या प्रतिकूलता के प्रत्यय-रूप बनते ही धनात्मक अथवा ऋणात्मक गुण उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार चेतना वस्तु को गुणीभूत बना लेती है, उसे अन्तर्भूत कर लेती है। इन गुणों का वस्तु में आरोप होता है। ये गुण ही मूल्य की प्रारम्भिक अवस्था है। ये गुण अच्छे-बुरे, सुखद-दुखद, सुन्दर-असुन्दर आदि द्वन्द्वों के रूप में आते है और एक तरह से ये अयथार्थ गुण है, क्योंकि वस्तु का अच्छापन

1. अनुभूति में गर्भित भाव है और प्रत्यय में
की आवश्यकता नहीं है।

या युगपत आदि वस्तु मे नही है, उसके चेतनात्मक प्रभाव-ग्रहण मे है। जल समूह का यथार्थ गुण H_2O है, जबकि लहराता सौन्दर्य अयथार्थ अर्थात् चेतना-परक गुण अर्थात् प्रत्यय। अनुभूति सक्रिय व्यापार है, जबकि प्रत्यय (गुण) उस व्यापार का निष्क्रिय प्रतीक है। अनुभूति वर्तमान है। उसके प्रत्यय बनते ही वह भूत हो जाती है और प्रत्यय भविष्य मे सक्रमित होता है। इस तरह चेतना काल की परम्परा का निर्माण करती है। यह चेतना अनुभूति से प्रत्यय का निर्माण ही नही करती, प्रत्यय को अनुभूति भी बनाती है। उदाहरणार्थ देशभक्ति, स्वतन्त्रता, प्रेम आदि प्रत्यय अनुभूति से उत्पन्न होकर भी अनुभूति रूप होते है। ऐसे प्रत्यय मूल्य होते है और ये भविष्योन्मुख होते है।

मनुष्य-चेतना की प्रारम्भिक अवस्था अनुभूति अर्थात् भाव-सम्बन्ध है। अनुभूति शरीर के माध्यम से होती है, सुख-दुख, ठडा-गर्म, बाधक-साधक, वर्धक-बधक आदि ऐसे प्रत्यय है, जो धनात्मक अथवा ऋणात्मक मूल्य बन जाते हैं। इन धनात्मक मूल्यों का समूह एक नये मूल्य (शरीर-पुष्टि अर्थात् स्वास्थ्य) को उत्पन्न करता है। यह एक ऐसा मूल्य है, जो सब कालो मे समान रूप से स्वीकृत रहा है। तो भी इसको सदैव साधनात्मक ही माना गया है। शारीरिक सुख-भोग, मस्तिष्क-सन्तुलन, यौगिक साधना अथवा सघर्ष मे विजय-प्राप्ति आदि अनेक साध्यों के लिए यह मूल्य साधन बन सकता है। केवल स्पार्टन सस्कृति मे इसे आदर्श का दर्जा दिया गया था। किन्तु वहाँ भी युद्ध मे विजय ही साध्य मूल्य रहा है। इस तरह स्पष्ट हुआ कि चेतना का एक पक्ष शारीरिक है और उससे शरीर-सम्बद्ध साधनात्मक मूल्य उत्पन्न होते हैं।

मनुष्य की चेतना का दूसरा पहलू इस शरीर को दूसरे शरीरो से मिलाता है, सम्बन्ध जोडता है। शरीर चेतन है। अत दूसरे शब्दो मे कहे तो इससे चेतन और चेतन का (मनुष्यो का) परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है। इस क्षेत्र मे भी अनुभूति (सवेदन) की अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है, पर वह सूक्ष्म स्तर पर—कामनाओ, भावनाओ अथवा आशाओं के स्तर पर—

का प्रादुर्भाव होता है। राजनीति, वर्ण-व्यवस्था, वर्ग-विभाजन-सम्बन्धी मूल्य यथार्थपरक हैं, जबकि प्रेम, करुणा, आत्म-सम्मान, द्वेष आदि व्यक्ति और भावपरक। ये व्यक्तिपरक भावात्मक मूल्य समूहगत भी हो सकते हैं, जैसे देश-प्रेम, जाति-प्रेम, नेता-प्रेम, मानव-प्रेम, देश-स्वातन्त्र्य, देशाभिमान, जातिगत द्वेष आदि। यहाँ आते-आते एक बात सुनिश्चित लगती है कि अनेकता (अर्थात् समाज) में मूल्य-सृष्टि यथार्थ और मानवी चेतना के दोनों रूपों के कारण होती है। इनके परस्पर विरोध से समाजवाद और व्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव होता है। समाजवाद में भी व्यक्ति है, क्योंकि इसका आश्रय ही अनेकता: व्यक्ति हैं और इसी प्रकार व्यक्तिवाद में भी समाज है, क्योंकि इसका अस्तित्व और सन्दर्भ समाज में है। यह भिन्नता गुरुता के केन्द्र की भिन्नता है। इसी गुरुता के बदलते केन्द्र के कारण सामाजिक मूल्यों ा विकास होता है, फलतः समाज में भी। इस विरोध के आत्यन्तिक रूप में माज-विरोधी मूल्य उत्पन्न हो सकते हैं और व्यक्ति-विरोधी मूल्य भी।

सामाजिक मनुष्य कई स्तरों पर जीता है। एक भौतिक स्तर है, जहाँ र्थ जीवन-निर्वाह के लिए अनिवार्य है। अर्थ-प्राप्ति से वह दैनिक और

भौतिक स्तर पर सुखपूर्वक जीवित रह सकता है और अतिरिक्त अर्थ हो, तो अन्य को भौतिक स्तर पर सहायता भी कर सकता है। इसीलिए अर्थ-प्राप्ति की लालसा समाज-जीवी में एक स्वाभाविक परिस्थितिजन्य अनुभूत वस्तु है। यह, प्रत्ययभूत वासना-लक्ष्य-सपृक्त 'अर्थ' मूल्य बन जाता है। अधिकार, राज्य, कानून, नैतिकता आदि के मूल्य इसी स्तर से उत्पन्न होते है, तत्सम्बद्ध सिद्धान्त भी इसी के विकसित रूप हैं। सिद्धान्त में समय पाकर 'मूल्य' बन जाने की क्षमता अन्तर्गभित है। सामाजिक मनुष्य का दूसरा भावात्मक स्तर है, जिसमें प्रेम, स्वाभिमान, द्वेष आदि मूल्यों का समाजीकरण अथवा राष्ट्रीयकरण होता है। उपर्युक्त देशाभिमान आदि मूल्य इसी स्तर से सम्बद्ध हैं। निष्कर्षत मनुष्य की चेतना का यह पहलू सामाजिक है और इसमें सामाजिक मूल्यों की उत्पत्ति होती है।

चेतना का तीसरा पहलू अतिक्रमणशील (Transcendental) है। यह चेतना देश-काल-सापेक्ष अस्तित्व (शरीर और समाज) का अतिक्रमण करती है। किन्तु देश-काल-सापेक्ष अस्तित्व की विरोधी नहीं है। इसका विषय विश्व सृष्टि है, जो उसमें प्रश्नात्मक अनुभूति, विस्मय, आश्चर्य, भय, श्रद्धा आदि उत्पन्न करती है। क्यों, कैसे, क्या ? सृष्टि का एक रूप है, जिसका इन्द्रिय-ज्ञान होता है। सृष्टि का एक क्रम है, जो अशत. देखा जा सकता है। सृष्टि है और उसका क्रम है, तो उसका कोई उद्देश्य या अर्थ (Purpose) भी होगा ही। देश-काल-स्थित चेतना अपने ही अनुभवों और प्रत्ययों के आधार पर इसका समाधान करती है। यह अनुभूतिजन्य प्रत्यय है —रूप है तो स्रष्टा भी होना चाहिए, क्रम है तो उसकी 'विशेषता' भी होनी चाहिए; कुछ है तो उसका अर्थ अर्थात् उद्देश्य भी है ही। मूल प्रश्न स्रष्टा का है। बाकी बातें तो स्रष्टा के साथ ही तय हो जाती हैं। विश्व की विशालता, जटिलता और अस्पष्टता मानवी चेतना की सर्जना नहीं हो सकती। इसलिए कोई ऐसी चेतना होनी चाहिए, जो विश्व-सृष्टि का निर्माण कर सके, जो इसका सोद्देश्य क्रम निर्धारित करे और जो विश्व के ही समान अनादि-अनन्त हो, असीम-अबद्ध हो, सर्वशक्तिमान हो। सम्भवतः मानव की

है। इस रूप में चेतना पूर्णत इन्द्रियाश्रित है। इन्द्रियानुभूति सदैव द्वैत की प्रतीति करवाती है—अनुभूत और अनुभावक का द्वैत। आत्मलक्षी चेतना इस द्वैतानुभूति का सश्लेषण अपनी प्रमाणभूत कल्पनात्मक सर्जक वृत्ति से कर लेती है, जबकि वस्तुलक्षी चेतना तर्काश्रित बाह्य प्रमाणधर्मी बुद्धि से इसका विचार करती है। फल यह होता है कि चेतना और अन्य में द्वैत स्थापित होता है। यह द्वैत चेतन और जड (परस्पर-विरोधी) तत्वो का तो है ही, चेतन और चेतन का भी है और इससे भी विसवाद उत्पन्न होता है। यह चेतना अन्य का अध्ययन करती है—निरपेक्ष बौद्धिक अध्ययन। परिणामत विश्व का यथार्थ रूप-स्वरूप स्थिर करती है, उसका ज्ञान देती है। इससे मूल्यों का विधान नही होता, क्योंकि यह 'है' और 'कैसे है' तक सीमित है। 'होना चाहिए' अथवा 'क्यो है' पर विचार नही करती। फलत. यह मूल्य-निरपेक्ष है। इससे उत्पन्न प्रत्यय वस्तु की भौतिकता से घनिष्ठत बद्ध रहते हैं। इसलिए स्वतन्त्ररूपेण अन्तर्भूत अथवा चेतना-स्वरूप नही हो सकते। फिर भी इससे प्राप्त तथ्य, सिद्धान्त अथवा प्रत्ययो का प्रभाव मूल्य-विधायक चेतना पर—विश्व-दृष्टि पर—हो सकता है और होता है। किन्तु यह चेतना स्वय किन्ही मूल्यो के पालन, स्थापन अथवा सर्जन से असम्बद्ध होती है। सत्य-शोध इसका लक्ष्य और धर्म है। इस सत्य-शोध से मूल्य-व्यवस्था मे जो हलचल होती है, वह इसका उद्देश्य नही। उस हलचल के लिए प्रभाव-ग्राही चेतना ही जिम्मेदार है। अपने तरीके से यह भी देश-काल-सापेक्ष व्यष्टि का अतिक्रमण करती है और समष्टि की स्थापना भी। असा-

आदि मूल्यों की अवतारणा हुई। ये मूल्य आत्यन्तिक माने जाते रहे और इन्हें साध्य समझा गया, शरीर और समाज-सम्बन्धी मूल्यों को साधनात्मक। साध्य और साधन का चेतन सम्बन्ध भी हो गया। प्रयत्न यह रहा कि साध्य से उद्भूत साधनात्मक मूल्य हों। उदाहरणत ईश्वर (अद्वैत) की विद्यमानता से एकतन्त्रवाद (साधनात्मक मूल्य) प्रवर्तित हुआ तथा राजा को ईश्वरांश भी स्वीकार किया गया। प्लेटो ने रिपब्लिक में दार्शनिकों को शासक बनाया, जिससे वे प्रत्ययों अर्थात् साध्य मूल्यों को साधनात्मक मूल्य बना सकें। इन साध्य मूल्यों की दूसरी विशेषता यह थी कि ये मनुष्य की सब चेतनाओं के कार्य और सम्बन्धों को स्वय मे समाहित किये हुए थे। ईश्वर मे सब-कुछ है, शरीर भी और समाज भी। उधर 'सत्य' का सम्बन्ध शरीर और प्रकृति से भी है, 'शिव' का समाज से और 'सुन्दर' का रागात्मक क्रिया से। दूसरे शब्दों मे, इन्ही सम्बन्धों का आदर्श वस्तुपरक समष्टिगत रूप ये मूल्य थे। फलत इन द्विविध मूल्यों मे विरोध नही, पूरकता थी। एक स्वस्थ तरतमता थी।

इस मूल्यगत तरतमता (साध्य=तम और साधन=तर) मे जीवन के विभिन्न पहलुओ की तरतमता भी अन्तर्गर्भित थी। आध्यात्मिक पहलू श्रेष्ठतम, जबकि भौतिक अर्थात् सामाजिक और शारीरिक श्रेष्ठतर। इसका फल यह हुआ कि व्यक्तिगत स्वार्थ, जातीय अथवा समाजगत अहंकारादि दुर्गुण दबे। व्यक्ति और समूह मे सघर्ष की सम्भावना कम रही। दूसरी ओर मानवीय चेतना का इन मूल्यो द्वारा ब्रह्माण्ड (Cosmos) से सवादात्मक सम्बन्ध स्थापित हुआ। वह ब्रह्माण्ड-विरोधी नही, उसका अग बना और दोनो किसी ब्रह्म अथवा प्रत्यय से समन्वित हुए।

ने गए । इस युग के दर्शन —— [illegible], कान्ट और हेगल और [illegible] । इनकी [illegible] के [illegible] [illegible] अनुभववाद, बुद्धिवाद, [illegible], उप-[illegible] आदि के स्वतन्त्र मूल्यों की उत्पत्ति हुई । बौद्धिक परिवेश के [illegible] में [illegible] [illegible] [illegible], बुद्धि (Reason) [illegible], [illegible] आदि के मूल्य उभरे । धार्मिक क्षेत्र में भी [illegible] स्वतन्त्र व्यवस्था, [illegible] आदि की [illegible] उत्पन्न हुई । स्पष्ट है कि इनमें से कुछेक मूल्य परस्पर-विरोधी भी हैं और इस विरोध का समाधान वैज्ञानिक चेतना नहीं कर सकती, क्योंकि धर्मादि के समान वस्तुपरक मूल्य इसे अब सुलभ नहीं हैं जो पूर्वकाल में धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक मूल्यों को एक व्यवस्था के रूप में ग्रथित करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक क्षेत्र के मूल्य विच्छिन्न (Isolated) और आत्म-निर्भर हो गए। परस्पर विरोध की सम्भावना बढ़ी।

व्यक्ति और व्यक्ति-सम्बद्ध परिवेश के इस प्राधान्य और आन्तरिक नैतिक आदर्शों और मूल्यों के ह्रास से मूल्यों में स्वपरकता (Subjectivism) और सापेक्षता (Relativism) का जन्म हुआ। नैतिक मूल्य किसी पूर्वस्थित उद्देश्य का पालन नहीं करते, जो उन्हें मानवीय उद्देश्यों अथवा स्व-अर्थों का पालन करना चाहिए—मानवीय स्व-अर्थ अर्थात् मानवीय काम, इच्छा, आशा, सम्भावना आदि। जो इन हितों की पूर्ति में सहायता करें, वे धनात्मक मूल्य और जो बाधा पहुँचाएँ वे ऋणात्मक मूल्य। भले-बुरे, सुन्दर असुन्दर, आदि मूल्यों का मानव के सिवा कोई दूसरा आधार नहीं है, यह मानना स्वपरकता है। ये मूल्य मानव के 'स्वार्थ' [illegible] पर आश्रित हैं। स्वपरकता का सहज परिणाम [illegible] है। [illegible]

फायडवाद, डार्विन का विकासवाद, बर्गसाँ का जिजीविषावाद, मार्क्स का अस्तित्ववाद, तर्कमूलक वस्तुवाद, असंगतिवाद, अनेकविध उपयोगितावाद आदि उत्पन्न हुए, जो इस सर्वनाश के कारण अथवा कार्यरूप हैं। ये सिद्धांत विज्ञान-प्रेरित होते हुए भी वैज्ञानिक नहीं थे, अर्ध-वैज्ञानिक थे अथवा रोमेण्टिक थे। इसलिए इनके मूल्य भी एकांगी और आत्यंतिक हैं।

इसके अलावा राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रीयता, साम्राज्यवाद, फासिज्म, साम्यवाद आदि की पैदाइश और तत्सम्बद्ध अंतर्राष्ट्रीयता, अराजकता, प्रजातंत्र, पूँजीवाद आदि की व्यवस्थाएँ और धारणाएँ भी विज्ञान-प्रेरित हैं, पर वैज्ञानिक नहीं।

संक्षेप में, इस तथाकथित वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने प्राचीन धर्म और दर्शन-जन्य मूल्यों का नाश तो किया, किन्तु मानव-जाति को निश्चित मूल्य नहीं दिए। विषय-विषयी के सामंजस्य को नष्ट कर इनमें विरोध स्थापित किया। मनुष्य के बाहरी पक्ष अर्थात् शरीर, व्यक्तित्व और समाज को केन्द्र-स्थानीय बनाया। मनुष्य को विवेकी और सामर्थ्यवान् बनाकर उसे अविवेकी और अशक्त साबित किया। फलतः उसके मन में लघुता, चिन्ता, निरर्थकता, मृत्यु-भय, निरुद्देश्यता, मूल्यहीनता आदि घातक वृत्तियों और भ्रमों को उत्पन्न किया। उसकी नीति-विरोधी लोलुपता और कामुकता का तर्कसंगत (?) आधार प्रस्तुत किया, जिससे ये वृत्तियाँ व्यावहारिक स्तर पर ग्राह्य और साध्य बन गईं। उसकी भावना और विचार दोनों स्तरों पर अव्यवस्था तथा अनिश्चितता उपजाई। फल है आज का संशयात्मा मनुष्य, जो सड़क पर भटकता मिलता है, उपन्यासों और कहानियों में झूरता है, दफ्तरों में सिर मारता है, आरामकुर्सी पर पड़ा अखबार बाँचता रहता है अथवा किसी कोने में खड़ा विचार का ढोंग रचाए रहता है।

सर्वत्र-चेतना कहीं भी स्पष्ट और निश्चित नहीं रह सकती। फलतः स्थिति के प्रति दार्शनिक प्रतिक्रिया अवश्य आती है, पर इससे ही इस पर फिर अपना काम प्रारम्भ कर देती है स्थिति को समझने और तत्पश्चात् उसका सामना करने या उसे परिवर्तित करने के मार्गों पर विचार करने लगते हैं। आधुनिक मूल्य-संकट के सन्दर्भ में ऐसा ही हुआ है और हो रहा है।

विचारकों का एक समूह (टॉयन्बी, नेबूर, मरे, इलियट आदि) विज्ञान से उत्पन्न उपयोगितावादी दृष्टिकोण के विपरीत पूर्वकालीन धार्मिक दृष्टिकोण और तज्जन्य मूल्यों की प्रतिष्ठा करना चाहता है। दूसरे वर्ग के लोग (रसेल, आयर, हक्सले, मार्क्स आदि) वैज्ञानिक दृष्टिकोण को स्वीकारते हुए समाज की नई व्यवस्था की उत्पत्ति सम्भव मानते हैं। इनकी धारणा है कि पुरुष मनुष्य यद्यपि है, अविवेकी है, दुष्ट है, फिर भी इसी को बुद्धि के द्वारा विवेकी, स्वतन्त्र और महान् बनाया जा सकता है। ईश्वर की सहायता नहीं ली जा सकती, क्योंकि ईश्वर मर चुका है, नहीं है। तीसरे वर्ग के व्यक्ति (लारेन्स, हेमिंग्वे, कामू आदि) कुछ अधिक निराश और क्रुद्ध थे। इन्होंने पूरी संस्कृति, वैज्ञानिक उन्नति और विचारगत प्रगति का विरोध कर प्रारम्भिक अवस्था, कार्य और असंगति का समर्थन किया। दुःख हमारा बन्धन है और असफल कार्य हमारी नियति।

पहला वर्ग विज्ञान को अस्वीकार कर धर्म अथवा प्रत्ययवादी दर्शन की प्रतिष्ठा करना चाहता है। दूसरा, धर्म को अस्वीकार कर वैज्ञानिक चेतना से ही मानव-मूल्यों को प्राणवान् बनाने को उत्सुक है। मूलतः यह मानववादी है। तीसरा मत एक प्रकार से वस्तुस्थिति को भावात्मक रूप में

निर्विवाद तथ्य प्राप्त होता है कि इस विज्ञान के विषय जड प्रकृति में ही, कथित लक्षणों के साथ, निरीक्षण-प्रयोग किया जा सकता है। फलतः भौतिक विज्ञान ही सच्चा विज्ञान है तथा यह वैज्ञानिक तरीका भौतिक वस्तुओं की सत्यता अथवा रूप को ही उद्घाटित कर सकता है। विज्ञान के प्रारंभ से ही एक गलती यह हुई है कि इस वैज्ञानिक दृष्टि को गलत ढंग से अर्थात् रूमानी ढग से समझा और ग्रहण किया गया है। विज्ञान से उपलब्ध तथ्यों से भी इसलिए *गलत और रूमानी निष्कर्ष निकाले गये हैं। उदाहरणार्थ प्रारंभिक* विज्ञान ने पदार्थ अथवा प्रकृति को सत्य, बोधगम्य और निश्चित गति-चक्र सिद्ध किया, पर यह सिद्ध नहीं किया कि ईश्वर अथवा ईश्वर या प्रत्यय-विधायक चेतना असत्य है। यह उसके अधिकार-क्षेत्र में नहीं आता, अतः वह चुप रहा। विज्ञान ने यह भी सिद्ध नहीं किया कि शरीर अर्थात् मनुष्य सर्वश्रेष्ठ है, उन्नति कर रहा है, पूर्ण हो सकता है, आदि। भावुक, रूमानी और पूर्वाग्रह-ग्रस्त मति का यह कार्य है। मानवतावाद, प्रबोधयुग आदि के सपने ध्वस्त होने के लिए ही निर्मित हुए थे, क्योंकि उनका कोई वैज्ञानिक आधार नहीं था। वे वैज्ञानिक गलतफहमी की उपज थे। इस गलतफहमी के लिए आंशिक रूप से यूरोपीय मानव की देशकालगत परिस्थितियाँ और सांस्कृतिक, बौद्धिक परम्परा भी उत्तरदायी है।

इस गैर-समझ का दूसरा भयंकर परिणाम उस समय हुआ, जब असम्यक् रूप से गृहीत वैज्ञानिक दृष्टि और पूर्वोक्त वैज्ञानिक रीति का मनमाना प्रयोग, मानव-मस्तिष्क, संस्कृति, धर्म, दर्शन आदि के अध्ययन में किया जाने लगा। रीति विषय-सापेक्ष होती है, विषय रीति-सापेक्ष नहीं होता। जड वस्तु के अध्ययन की रीति चेतन तत्त्व को पूर्णतः नहीं समझ सकती, अधिक-से-अधिक अंश को ही पकड पाती है। चूँकि चेतन-स्वरूप परिवर्तित होता रहता है, बढ़ता रहता है, अतः वह इस रीति का भी अतिक्रमण करता है। इसके अलावा चेतन निर्माण करता है, उसका अपना एक तरीका है, जिससे वह मूल्यांकन करता है। ...

ग्रस्त हो जाती है। एक प्रकार के अनुमान अथवा आरोप अनजाने ही समाविष्ट हो जाते हैं। निरीक्षण-प्रयोगात्मक वैज्ञानिक रीति चेतन के अंश तक ही सीमित रहती है। उसके समग्र स्वरूप को नहीं पा सकती। अंशों से उद्‌भावित सिद्धान्त अंशसत्य और अवैज्ञानिक होता है। काम की केन्द्रीयता, विक्षिप्तों के अध्ययन का साधारणीकरण, अवचेतन का महत्त्व; सामाजिक वृत्ति का विरोध आदि तत्त्वों पर आश्रित फ्रायडवाद भी आंशिक तथ्यों का ही समूह है। अन्य व्यक्ति-परक समाज-विरोधी विचारधाराएँ भी इसी दुष्प्रयोग के परिणाम हैं।

इस अर्ध-वैज्ञानिक दृष्टि ने मनुष्य के मस्तिष्क को पदार्थ-विज्ञान के संदर्भ में समझने की चेष्टा की। मस्तिष्क में कामना, इच्छा, आशा आदि भावनाएँ हैं, प्रत्यय-मूल्य और बिम्ब-विधायक कल्पना और अतिक्रमणशील सर्जनात्मक विवेकादि की शक्तियाँ हैं और व्यावहारिक विश्लेषणात्मक बुद्धि है। शुद्ध वैज्ञानिक दृष्टि से मस्तिष्क की इन सब शक्तियों के कार्य की सत्यता को स्वीकार किया जाना चाहिए था। किन्तु इस गलतफहमी ने केवल उन्हीं की सत्यता स्वीकार की, जिनका संदर्भ पदार्थ-विज्ञान से जुड़ सकता था। भावनाओं की अभिव्यक्ति शरीर-सापेक्ष है, प्रयोग के क्षेत्र में आती है। विश्लेषणात्मक बुद्धि आगमनात्मक और निगमनात्मक सूत्रों में फलित होती है। केवल सर्जक शक्तियों का ही पदार्थगत प्रमाण नहीं मिलता, क्योंकि ये पदार्थ का अतिक्रमण करती हैं, उसको विकृत तक कर देती हैं। फलतः उनका कार्य-फल अगम्य है। स्पष्ट है कि ये तर्क और निष्कर्ष दोनों असंगत हैं, क्योंकि इसमें परोक्षीय प्रमाणवाद का आधार लिया गया है। उचित वैज्ञानिक दृष्टि का निष्कर्ष यह होना चाहिए कि तीनों सत्य हैं, किन्तु कल्पना आदि अतिक्रमणशील सर्जनात्मक चेतना का जब पदार्थ से सम्पर्क होता है और जो पदार्थ का स्वरूप अर्जित होता है, वह रूप अगम्य है, क्योंकि वह पदार्थ विज्ञान-सम्मत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मस्तिष्क के इस विभाग का कार्य उस हद तक सत्य समझा जाना चाहिए, जिस हद तक उसका पदार्थ से सम्पर्क नहीं होता। इसका यह परिणाम भी निकलता है कि मस्तिष्क

के इसी पक्ष से उत्पन्न धर्म, ईश्वर और प्रत्ययगत मूल्य भी उस हद तक सत्य समझे जाने चाहिए जिस हद तक वे पदार्थ-विज्ञान का विरोध नहीं करते, अर्थात् मूल्यों और नैतिकता के क्षेत्र में इनकी वास्तविकता है।

मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, दर्शन-विज्ञान आदि विज्ञान नहीं, तथाकथित नकली विज्ञान हैं, और नकली विज्ञानों का कुप्रभाव ही मानव-व्यवस्था और मूल्य-जगत् पर अधिक हुआ है। पदार्थ-विज्ञान के फलों और तरीक़ों को ये विकृत करके समाज के सम्मुख रखते हैं। इस तरह विकार फैलता है।

मूल्यों की स्वपरकता और सापेक्षता भी इन 'विज्ञानों' के प्रभाव और अवैज्ञानिक दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। वैज्ञानिक दृष्टि 'स्व' से 'सर्व' की स्थापना करती है, अर्थात् व्यष्टि से समष्टिगत एकता स्थापित करती है। इस प्रक्रिया में वह देश-कालगत सापेक्षता का अतिक्रमण करती है। गुरुत्वाकर्षण व्यष्टि, देश और काल से अतीत है। फिर चेतन ही वस्तुपरक, निरपेक्ष और आत्यंतिक क्यों नहीं हो सकता? स्पष्ट है कि पूर्वकालीन धार्मिक और दार्शनिक वस्तुपरक आत्यनिक मूल्यों का मूलत नाश इस अवैज्ञानिक दृष्टि का ही दुष्परिणाम था।

डार्विन का विकासवाद और मार्क्सवाद भी इसी भ्रम से भ्रमित रहे। पदार्थ में चेतना की उत्पत्ति हुई, इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकलना चाहिए था कि चेतना पदार्थ को प्रभावित नहीं कर सकती, उसका महत्त्व कम है अथवा वह सदैव पदार्थ से बद्ध ही रहती है, अथवा उसके गुण से स्थापित मूल्य गलत हैं। मनुष्य के विकास में चेतना भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है, विकसित चेतना संभवतः अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस अवस्था में अर्थात् चेतना के विकास के पश्चात् 'योग्यतम का अस्तित्व' के स्थान पर 'योग्यतमता

-वादी मूल्यों का विरोध करते हुए भी धार्मिक-वृत्ति और विचारगत मूल्यों का पोषण और निर्वहन करता है।

सक्षेप मे वैज्ञानिक दृष्टि आत्मलक्षी सर्जनात्मक चेतना की निर्मिति अर्थात् धर्म, दर्शन, नीति आदि और तद्भव मूल्यो का विरोध नही करती, कुछ अश तक उन्हे स्वीकार करती है, नही तो मौन रहती है। इसलिए धर्म, विचारवादी दर्शनो, नैतिकता आदि का नये रूप मे सर्जन और पुनर्स्थापना संभव है। इनके पुराने रूप की प्रतिष्ठा करने की चेष्टा व्यर्थ होगी, क्योकि पुराना रूप विज्ञान से असपृक्त था। अब नये रूप मे विज्ञान और वैज्ञानिक दृष्टि का समूह रहेगा। इस तरह नवीन मूल्यो की स्थापना हो सकती है। इसके लिए आधार तो है ही। सामान्य जनता अब भी धर्म-प्राण है। अमेरिका मे बौद्धिक वर्ग तक मे भी धर्म काफी प्रचलित हो रहा है। मूल्य-विधायिनी चेतना भी सक्रिय है। इसको नया रूप देना है जो सर्वग्राह्य हो, बौद्धिको को भी और लोक को भी। यह कार्य कोई वैज्ञानिक अधिक आसानी से कर सकता है, क्योकि उसके प्रति एक सभ्रम, भयमिश्रित श्रद्धा लोगो के मन मे है। काम बडा कठिन है, पर आशा के लिए कुछ भी कठिन नही होता।

सर्जन और प्रतिवद्धता

सर्जन और प्रतिवद्धता में 'और' है। यह 'और' समझना आवश्यक है। 'और' सम्भवतः असमानता का सूचक है। असमानता विरोध की सीमा तक भी हो सकती है—जैसे प्रकाश और अंधकार या द्वैताश्रित किंचित् इकाईनिष्ठ भी, जैसे पटेल और नेहरू। स्पष्ट है कि 'पटेल और नेहरू' के 'और' में विरोध (contradiction) नहीं, मूलभूत सामान्य पर आश्रित व्यक्तिनिष्ठ इकाइयाँ (particularity) हैं, द्वैत है। 'सर्जन और प्रतिवद्धता' में बैठे 'और' में क्या है, कौन-सा अर्थ है? व्याकरणिक या कोशीय अर्थ मेरी समझ में हमारी मदद नहीं करेगा, क्योंकि वह तो विरोध का ही अर्थ देता है। 'सर्जन' स्वधर्म में ही आवद्ध होता है, बद्ध या प्रतिवद्ध होते ही वह सर्जन नहीं रहता, सर्जित हो जाता है। हमारा विवेच्य 'सर्जित' नहीं, सर्जन है। क्रिया और बंधन में विरोध है, एक होगा तो दूसरा नहीं होगा, दूसरा होगा तो पहला नहीं। इसलिए व्याकरण और कोश हमारी सहायता नहीं कर रहे, क्योंकि इन दृष्टियों से यह 'और' अर्थात् सर्जन और प्रतिवद्धता का विषय असंगत या कुतर्क है।

यह भी विचार-योग्य है कि यदि व्यक्ति को महत्त्व नहीं दिया गया तो मुक्ति क्या समाजगत है? राजा क्या कोई भी हो सकता था? कालिदास और व्यास या भारवि या भवभूति में अन्तर क्यों है? इसका मूल कारण कोई और है। मैं थोड़ा अनुमान लगाने का प्रयत्न करता हूँ—'गलत' सिद्ध होने की प्रस्तुति के साथ। सम्भवतः हमारे यहाँ कला को, साहित्य-सर्जन को समाज की उपयोगिता की दृष्टि से कभी देखा ही नहीं गया। यह शायद कल्पना भी नहीं की गई कि सर्जन समाज का कुछ सुधार या बिगाड़ कर सकता है। सर्जन प्रतिभा के क्षेत्र में, कल्पना के क्षेत्र में, आत्मा के क्षेत्र में ही रहा अर्थात् मनोवैज्ञानिक स्तर पर, इसलिए माना गया कि वह मनुष्य को, सामाजिक को, उसी स्तर पर प्रभावित करता है। यह सरल निश्चित जीवन, विवेकपूर्ण दृष्टि और बुद्धिसंगत समाज-व्यवस्था के कारण सम्भव हो सका। वर्णाश्रम व्यवस्था इस कला-दृष्टि का मूल है। यह विचार बहुत अधिक मनन और विवेचन की अपेक्षा रखता है—अभी मैं क्षमा चाहूँगा।

तत्सम्बद्ध एक बात और विचारणीय है कि जब पश्चिम में अभिव्यक्ति-वादी भारतीय दर्शन से मिलती-जुलती काव्य-चिन्ता शुरू हुई, उसी समय हमारे यहाँ साहित्य और समाज, सर्जन और प्रयोजन, प्रतिबद्धता आदि की बातें होने लगीं। हमने कला का समाजीकरण किया और यहाँ के काव्य-चिन्तकों ने इसे अधिक आत्मनिष्ठ और व्यक्तिनिष्ठ बनाया। इसके मूल में मैकाले हैं। पश्चिमी शिक्षा, जिसने हमें मानसिक रूप से विस्थापित कर अधकचरे जेंटलमैन बना दिया और समाजपरक कलावाद हममें भर दिया। स्मरण रहे कि पश्चिम में अभिव्यक्तिवादी चिन्तना बौद्धिक विचारकों में अधिक रही, किन्तु हम पर प्रभाव रस्किन, टॉलस्टाय और रिचर्ड्स का पड़ा।

मैंने भारतीय परम्परा की ओर संकेत इसलिए किया है कि हम इस विषय को सांस्कृतिक धारा के संदर्भ में भी देख सकें और यदि उचित हो तो अपनी दृष्टि को उसमें संयुक्त भी करें। भारतीय चिन्तक ने सर्जन को मनो-वैज्ञानिक स्तर पर विवेचित किया है, इसलिए 'प्रतिबद्धता' की उसे आवश्यकता ही नहीं हुई।

भाषा : सामान्य, वैज्ञानिक और काव्यात्मक

दैनिक जीवन में प्रयुक्त भाषा के दो रूप प्राप्त होते हैं—व्यावहारिक और भावात्मक। व्यवहार में भाषा साधन रूप होती है। उसका प्रयोग उपयोग-परक होता है। हम बाजार जाएँ और दुकानदार से कहें कि एक सेर चावल दो। यहाँ हमारा उद्देश्य चावल प्राप्त करना है इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए भाषा का साधन के रूप में हम प्रयोग करते हैं। अर्थात् उद्देश्य-सम्पादन के लिए इसकी उपयोगिता है। भाषा अपने-आपमें उद्देश्य नहीं है। इस रूप में भाषा हमारे व्यक्तित्व का अंग नहीं है, लगता है हम बाहर की किसी वस्तु का प्रयोग कर रहे हैं। कुछ ऊँचाई पर—पेड़ पर आम लगा है, एक लम्बी लकड़ी लेकर हम उसे उतार लें। इस लम्बी लकड़ी और भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं है। इस स्थिति में त्रिकोण की कल्पना की जा सकती है साधक (हम), साधन (भाषा) और साध्य (चावल)। यहाँ भाषा की उपयोगिता अर्थात् सम्प्रेषण (Communication) प्रमुख है और भाषा अपने-आपमें निर्जीव है। दूसरी विशेषता यह है कि यहाँ प्रत्येक शब्द का अर्थ बौद्धिक है, निश्चित है, अभिधा है। 'एक सेर चावल दो' का अर्थ है एक सेर चावल दो।

मान लीजिए मैं किसी से नाराज हो जाऊँ और कहूँ, "मैं तुम्हें मार डालूँगा।" कहते समय भवें तनेंगी, आवाज में कटुता होगी, शायद हाथों में भी विशेष क्रिया हो। मतलब, मेरा क्रोध पूरी तरह व्यक्त होगा। फलत भाषा सहज ही भावात्मक हो जाएगी। क्रोध मेरा है। 'मैं मार डालूँगा' का

डालूँगा' में 'मैं' की काल-देश-सापेक्ष भावाविष्ट स्थिति है और 'मार डालना' शब्द एक विशिष्ट क्रिया का प्रतीक है, ऐसी क्रिया जो भावाविष्ट है। 'मारना' निर्भाव नहीं हो सकता। कम-से-कम इस विशिष्ट 'मैं' के लिए फलत सदर्भ और प्रतीकात्मक क्रिया से भावात्मक अर्थ की निष्पत्ति होती है। व्यावहारिक अर्थ की निष्पत्ति भी इसी प्रकार होनी चाहिए। 'एक सेर चावल दो' में कहने वाला एक विशिष्ट स्थिति में होगा ही, पर यह स्थिति निर्भाव है और चावल देने की क्रिया भी निर्भाव अर्थात् बौद्धिक है। फलत व्यावहारिक अर्थ की प्राप्ति हुई। निष्कर्षत भाषा की व्यावहारिकता और भावात्मकता देश-काल-सापेक्ष व्यक्तिपरक सन्दर्भ पर आश्रित हैं।

वैज्ञानिक भाषा का क्या रूप होता है? फिर एक उदाहरण लें, The chemical formula of water is H_2O ।[1] यहाँ हर शब्द का बौद्धिक है, विशिष्ट सन्दर्भ में बँधा हुआ। H_2O का विशिष्ट प्रतीकात्मक अर्थ सर्वसामान्य नहीं, वैज्ञानिक के लिए ही है। कहें तो अर्थ-व्याप्ति सकुचित हो गई है, फलत भाषा अत्यधिक बौद्धिक। बौद्धिक योग्यता अर्थात् बौद्धिक क्रिया व्यक्तिगत होती है, पर उस क्रिया का आधार (Object) और निष्कर्ष (Conclusion or result) व्यक्ति-निरपेक्ष हो सकते हैं। Water यहाँ Object है, निष्कर्ष H_2O तथा Chemical formula उस बौद्धिक क्रिया की सूचना। किसी विशिष्ट व्यक्तिगत बुद्धि की क्रिया का फल है formula। Formula बनते ही व्यक्ति की सत्ता समाप्त हो गई, अर्थात् ऐतिहासिक हो गई। इसका फल हुआ कि भाषा पूर्णत व्यक्ति-निरपेक्ष और भावविहीन हो गयी है। कुछ अश तक इस वैज्ञानिक भाषा की जीवन में प्रयुक्त व्यावहारिक भाषा से समानता द्रष्टव्य है। यहाँ भी भाषा उपयोगपरक है, बौद्धिक साधन रूप है। पर इन दोनों में अन्तर भी है। जीवन की व्यावहारिक भाषा अधिक व्याप्त है, जबकि

"मैं' मैं हूँ, विशिष्ट व्यक्ति हूँ। अर्थात् भाषा भावात्मक और व्यक्तिग
है। फिर भी विलक्षणता यह है कि यहाँ भाषा समाजगत भी है। 'विश
धर्माश्रय' है, व्यक्ति और समाज को समाहित किये हुए। यह समाजगत
कैसे हुई ? क्रोध का भाव और मार डालने की क्रिया व्यक्तिशः सर्वसामान्
की हैं। इस स्थिति में मुझमें, क्रोध के भाव में और भाषा में कोई भेद नहीं
है। यह मेरे व्यक्तित्व का अंग है, कोई बाहर से गृहीत वस्तु नहीं, यह
साधन नहीं है। फलतः उपयोगपरक भी नहीं है। यहाँ 'मैं मार डालूंगा'
वाक्य सम्प्रेषण के उद्देश्य से नहीं उच्चरित होता, दूसरे मानवों में सम्प्रेषण
स्मृति (क्रोध की स्थिति के पुनरावर्तन से निर्मित बिम्ब), सम-अनुभूति
(हरेक प्राणी में क्रोध की वृत्ति है) आदि के द्वारा सहज ही हो जाता है।
सम्भवतः यहाँ अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण में भी कोई अन्तर नहीं है। यह
कहने की आवश्यकता नहीं कि यह भाषा भावात्मक है, क्रोधयुक्त। इस
भाषा के प्रत्येक शब्द के अर्थ में बुद्धिपरक निश्चितता नहीं है। 'मैं मार
डालूंगा' में व्यञ्जना ही प्रमुख है। मारने वाले 'मार डालूंगा' कहकर नहीं
मारते। दूसरी बात यहाँ भाषा में संकेतित कार्य भी भावाश्रित है। मारना
बे-भाव नहीं हो सकता।[1]

हमने ऊपर भाषा के व्यावहारिक और भावात्मक रूपों का विवेचन
किया है। स्पष्ट है यह व्यावहारिकता अथवा भावात्मकता शब्दों के 'अर्थ'
में समाहित है। शब्द अपने-आपमें Neutral होते हैं। अब प्रश्न है कि शब्दों
का यह विशिष्ट अर्थ कैसे उत्पन्न होता है ? भाषा-प्रयुक्त शब्द के लिए
प्रयोगकर्ता की आवश्यकता है। सम्भवतः यह विशिष्ट अर्थ प्रयोगकर्ता की
देन है, उसके व्यक्तित्व का अंग है। प्रत्येक शब्द प्रयोगकर्ता से संयुक्त होकर
किसी-न-किसी क्रिया (भौतिक और मानसिक) का प्रतीक बन जाता है
तथा किसी विशेष सन्दर्भ—भौतिक अथवा मानसिक—से बंध जाता है।
अधिक स्पष्टता के लिए पहले वाले उदाहरणों पर विचार करें। 'मैं मार

1. 'मैं मार डालूँगा' की जगह दूसरा उदाहरण लें, तो भी [illegible]
सम्भवतः [illegible] बनेगा।

'विचारगत भावानुभूति' (Idealized emotion)[1] हो जाती है। मानसिक भाव (psychic emotion) कवि के लिए एक वस्तुरूप सत्ता (object) के समान हो जाते हैं। इस सम्बन्ध मे भारतीय विचारक आचार्य जगन्नाथ की काव्य-परिभाषा भी ध्यातव्य है। 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्।' पहले बताया जा चुका है कि बौद्धिक अर्थ भाव-विहीन होता है, अतः 'रमणीय' नहीं हो सकता, क्योंकि रमणीयता भावाश्रित ही है। भट्टनायक प्रवर्तित साधारणीकरण के सिद्धान्त मे कवि और अनुभूति मे अलगाव (Detachment) अनुमित किया जा सकता है। स्पष्ट है कि यह रमणीयता कल्पना से ही उद्भूत हो सकती है। अब प्रश्न है कि काव्य मे बुद्धि का क्या कार्य है ? किसी भी प्रकार का सचेतन रूप-विधान (Form) बिना बुद्धि की सहायता के सम्पादित नहीं हो सकता। क्योकि रूप-विधान वास्तव मे अन्तर के बिम्ब का बाह्यीकरण (Externalization) है। कलाकार के मन मे सहज ही एक बिम्ब आया, वह बिम्ब के प्रति सचेतन हुआ। अब उस बिम्ब को वह प्रकट करना चाहता है—बाहर करना चाहता है। यह प्रकटीकरण रूपात्मक होगा। स्पष्ट है कि कलाकार को अनेक उपकरणों और अंग-रूपों (Structures) का बौद्धिक सयोजन करना पड़ेगा।

हम काव्य की भाषा पर विचार करें। यदि हमे काव्य की उपर्युक्त परिभाषा या व्याख्या स्वीकार्य हो, तो कहा जा सकता है कि काव्य की भाषा 'विशिष्ट' प्रकार से भावात्मक है। इस 'विशिष्ट प्रकार' को थोडा और समझने की आवश्यकता है। यह पूर्व-चर्चित दैनिक जीवन की भाषा से भिन्न है। वहाँ भाषा पूर्णत व्यक्तिगत भावो से आविष्ट है। 'मैं मार डालूँगा' के 'मैं' मे और क्रोधाविष्ट 'मैं' मे कोई अन्तर नही है, एकात्म्य है। अत क्रोध का भाव वस्तुरूप (Object) नही है। भाव और प्रकटकर्ता मे अलगाव नही। अत कह सकते हैं कि काव्य-भाषा की भावात्मकता इस सन्दर्भ मे विशिष्ट है, पर दोनो मे कुछ समानता भी है। दैनिक जीवन की भाषा साधन-रूप नही है, उसी प्रकार काव्य की भाषा भी साधन-रूप नही

1. देखिए— Collingwood—The Principles of Art, p. 274

वैज्ञानिक भाषा अत्यन्त विशिष्ट। दूसरी प्रमुख विशेषता यह है कि यहाँ भाषा प्रतीकात्मक बना दी गई है। ये प्रतीक बुद्धि-नियोजित (Intellectualized) हैं, अतः विशेषज्ञों के लिए हैं। H_2O प्रतीक है, पर सर्वसामान्य नहीं। दूसरी बात—इन प्रतीकों का विधान निरंकुश और मनमाना (Arbitrary) होता है। बीजगणित के X, Y, Z को X, Y, Z क्यों माना जाता है? इसका कोई समाधान नहीं। दर्शन में भी इसी प्रकार के प्रतीकों का प्रयोग होता है। शाक्त तंत्र में 'अहम्' की व्याख्या देखिए अ = शिव, ह = शक्ति। निश्चित रूप से यहाँ मनमाना और बौद्धिक प्रतीक-विधान दिखाई देता है, जो विशिष्ट वर्ग को ही ग्राह्य है।[1] संक्षेप में कहें तो वैज्ञानिक भाषा अधिक-से-अधिक व्यक्ति-निरपेक्ष, बौद्धिक और प्रतीकात्मक होती है।

अब काव्य की भाषा पर विचार करें। काव्य प्रमुखतः भावात्मक होता है और अंशतः बौद्धिक। अनुभूति का आधार भाव हैं, जबकि अभिव्यक्ति किसी-न-किसी रूप में बुद्धि पर आधृत है। काव्य का यह भाव कैसा है? अनुभूति कैसी है? सामान्य जीवन में प्राप्त भाव और सामान्य जीवन में उत्पन्न अनुभूति तो यह नहीं हो सकती। क्योंकि कवि कविता लिखता है, भावाविष्ट अथवा अनुभूति व्याप्त अवस्था में कविता नहीं लिखी जा सकती। भावावेश और अनुभूति प्रभाव की अवस्था के प्रति जब वह सचेतन (Conscious) होता है, तब सहज रूप से भावानुभूति और कवि में एक अलगाव (detachment) उत्पन्न हो जाता है। भावानुभूति एक मानसिक प्रतिक्रिया (Psychic response) ही नहीं रहती, वह सचेतन कल्पनात्मक क्रिया (Imaginative activity) का रूप धारण कर लेती है और

1. Susanne Langer ने अपनी पुस्तक The Philosophy in a New Key में भाषा की उत्पत्ति (Origin) [illegible] 'Vocal actualization of the tendency to see the reality symbolically' है। [illegible]

है। काव्य में भी भाव और भाषा में अभेद रहता है। दूसरे, काव्य की भाषा मे भी अर्थ की बौद्धिक निश्चितता नही होती। काव्य व्यंग्य होता है।

दूसरी तरफ काव्य की भाषा मे बौद्धिकता का सम्पुट भी है ही। रूप-विधान, अलंकार, रूपक और प्रतीकों का प्रयोग इस बात का प्रतिपादन करते हैं। सामान्य भाषा की असामर्थ्य प्रतीकादि के प्रयोग के लिए उत्तरदायी है। वैज्ञानिक प्रतीकों की उत्पत्ति के लिए भी यही बात सत्य प्रतीत होती है। अब प्रश्न है कि फिर वैज्ञानिक प्रतीक और काव्यात्मक प्रतीकों मे अन्तर क्या है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, वैज्ञानिक प्रतीक निरंकुश और पूर्णतः बौद्धिक (Intellectual) होते हैं। किन्तु काव्य के प्रतीक प्रायशः निरंकुश नही होते और पूर्णतः बौद्धिक तो कभी भी नही। काव्य के प्रतीकों में भावानुभूति-प्रेरित कल्पना प्रमुख रहती है, बौद्धिक क्रिया केवल सहायक। इसके अतिरिक्त काव्य के प्रतीक कवि के सूक्ष्म भावात्मक व्यक्तित्व से भावित होते हैं, वे वैज्ञानिक की तरह व्यक्ति-निरपेक्ष हो सकते हैं, पर कवि-निरपेक्ष नही हो सकते। आशा है यह 'विशिष्ट प्रकार' स्पष्ट हो गया होगा।

पुरानी पीढ़ी : नई रचनाएँ

विवेचन-सौकर्य के लिए प्रस्तुत निबन्ध को तीन विभागों में बाँट लेना उचित है, काव्य-प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विकासानुक्रम के आधार पर। आलोच्य कवियों में छायावाद-काल से पूर्व का कोई कवि नहीं है। फलत पहला विभाग (1) छायावादी कवियों का है। पन्त और रामकुमार वर्मा ये दो कवि इस विभाग में विवेचित होंगे। दूसरे विभाग (2) में बच्चन, अंचल, भगवतीचरण आदि वे कवि आएँगे, जो छायावाद की छाया में फल-फूलकर भी छायावाद की परिधि में नहीं आते। तीसरा विभाग (3) उन कवियों का होगा, जिनकी प्रतिष्ठा हिन्दी में राष्ट्रीयता के गायक तथा प्रगतिवादी (अथवा प्रगतिशील) कवियों के रूप में हो चुकी है।

विभिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न कवियों को सम्मिलित करने का आधार विवेच्य कवियों की प्रारम्भिक प्रवृत्तिगत प्रतिष्ठा ही है।

है। काव्य में भी भाव और भाषा मे अभेद रहता है। दूसरे, काव्य की भाषा मे भी अर्थ की बौद्धिक निश्चितता नही होती। काव्य व्यग्य होता है।

दूसरी तरफ काव्य की भाषा मे बौद्धिकता का सम्पुट भी है ही। रूप-विधान, अलकार, रूपक और प्रतीको का प्रयोग इस बात का प्रतिपादन करते हैं। सामान्य भाषा की असामर्थ्य प्रतीकादि के प्रयोग के लिए उत्तरदायी है। वैज्ञानिक प्रतीको की उत्पत्ति के लिए भी यही बात सत्य प्रतीत होती है। अब प्रश्न है कि फिर वैज्ञानिक प्रतीक और काव्यात्मक प्रतीको मे अन्तर क्या है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है, वैज्ञानिक प्रतीक निरकुश और पूर्णत बौद्धिक (Intellectual) होते है। किन्तु काव्य के प्रतीक प्रायश निरकुश नही होते और पूर्णत बौद्धिक तो कभी भी नही। काव्य के प्रतीको मे भावानुभूति-प्रेरित कल्पना प्रमुख रहती है, बौद्धिक क्रिया केवल सहायक। इसके अतिरिक्त काव्य के प्रतीक कवि के सूक्ष्म भावात्मक व्यक्तित्व से भावित होते हैं, वे वैज्ञानिक की तरह व्यक्ति-निरपेक्ष हो सकते है, पर कवि-निरपेक्ष नही हो सकते। आशा है यह 'विशिष्ट प्रकार' स्पष्ट हो गया होगा।

पुरानी पीढ़ी : नई रचनाएँ

विवेचन-सौकर्य के लिए प्रस्तुत निबन्ध को तीन विभागों में बाँट लेना उचित है, काव्य-प्रवृत्तियों के ऐतिहासिक विकासानुक्रम के आधार पर। आलोच्य कवियों में छायावाद-काल से पूर्व का कोई कवि नहीं है। फलत पहला विभाग (1) छायावादी कवियों का है। पन्त और रामकुमार वर्मा ये दो कवि इस विभाग में विवेचित होंगे। दूसरे विभाग (2) में बच्चन, अंचल, भगवतीचरण आदि वे कवि आएँगे, जो छायावाद की छाया में पल-फूलकर भी छायावाद की परिधि में नहीं आते। तीसरा विभाग (3) उन कवियों का होगा, जिनकी प्रतिष्ठा हिन्दी में राष्ट्रीयता के गायक तथा प्रगतिवादी (अथवा प्रगतिशील) कवियों के रूप में हो चुकी है।

विभिन्न विभागों में भिन्न-भिन्न कवियों को सम्मिलित करने का आधार विवेच्य कवियों की प्रारम्भिक प्रवृत्तिगत प्रतिष्ठा ही है।

सकता है। ये कवि प्रभावित तो अवश्य हुए, किन्तु इन्होंने अपने-अपने आदर्शमय नैतिक दृष्टिकोण का त्याग नहीं किया। कविता का अन्तर इन्हीं आदर्शवादी मान्यताओं से ओत-प्रोत रहा। नैतिक आदर्श सदैव समाजपरक होते हैं। फलतः कविता भी समाजपरक ही अधिक रही। उसमें 'मैं' के सुख-दुख, राग-विराग, आशा-निराशा का चित्रण नहीं हुआ। समाज, राष्ट्र, धर्म, जाति, देश आदि का गौरव-गान कविता के वर्ण्य विषय बने रहे। संक्षेप कहें तो काव्य का अंग-प्रत्यंग आदर्श विधायक हो गया। पर इसके साथ-साथ पश्चिमी सम्पर्क से विकास की प्रक्रिया भी चलती रही। उस प्रक्रिया के गतिचिह्न तद्युगीन कवियों के प्रकृति-चित्रण में दिखाई देते हैं। प्रकृति का आलम्बन रूप में रीतिकालीन ऋतु-वर्णन से विशिष्ट वर्णन हुआ और कवि (त्रिपाठी विशेष रूप से) प्रत्येक प्रकृति कार्य में एक अद्भुत अलौकिक संयोजना तथा ईश्वरीय सत्ता का दर्शन[1] करने लगे, जो किसी-न-किसी रूप में वर्ड्सवर्थ का प्रभाव माना जा सकता है। यही प्रकृति का नवीन स्वरूप व आधार-भूमि है जिस पर छायावाद का विकास हुआ। फलतः कहा जा सकता है कि बंगला के साथ-साथ पश्चिमी प्रभाव भी काव्य-विकास में सक्रिय योग देता रहा है। छायावादी काव्य पर पश्चिमी प्रभाव अब विवादास्पद विषय नहीं रहा है। एक बात स्पष्ट कर देने की आवश्यकता है कि छायावादी कवियों ने वर्ड्सवर्थ, शेली, कोलरिज, ब्लेक और अबरक्रोम्बी से जितना प्रभाव ग्रहण किया उतना कीट्स से नहीं। इसके तीन कारण प्रतीत होते हैं—(1) कीट्स मूलतः तथा प्रमुखतः आध्यात्मिक कवि नहीं हैं, जबकि छायावाद प्रारम्भ से ही अध्यात्मरंजित रहा है। (2) दूसरे, कीट्स में अत्यन्त सबल ऐन्द्रिक अनुभूति है जिसको ग्रहण करने के लिए छायावादी कवि मानसिक अथवा मनोवैज्ञानिक रूप से तैयार नहीं थे। वे रीतिकालीन ऐन्द्रिकता से सतर्कतापूर्वक बचना चाहते थे। जितना बच पाए यह अलग बात है। (3) तीसरा कारण—कीट्स का काव्य अनुकरण-अगम्य। कीट्स मूर्त कल्पना का कवि है। अमूर्त-से-अमूर्त विषय को भी मांसल

[1] [illegible]—[illegible], [illegible], प्रेम।

[illegible]

उपर्युक्त विवेचन से छायावाद की मौलिकता पर सन्देह नहीं होना चाहिए। छायावाद की प्रेरणा पश्चिमी है, छायावाद पश्चिम से प्रभावित भी हुआ है। फिर भी छायावाद ने स्वयं को भारतीय काव्य-परम्परा में ढाल लिया है। वह मूल रूप से अभारतीय होते हुए (मुक्तको) भी प्रमुखतः भारतीय हो गया है—यही उसकी विशेषता है। इसका सविस्तार विवेचन अनपेक्षित ही नहीं, विषयांतर भी होगा।

विषयवस्तु की दृष्टि से (मेरी दृष्टि में विषयवस्तु ही प्रमुख और निर्णायक है, सफल काव्य में शैली तो 'विषयानुकूल' ही होती है) छायावाद की दो प्रमुख विशेषताएँ प्रतीत होती हैं

(1) भाव-प्रधानता

(2) आध्यात्मिक दृष्टिकोण।

इन दोनों को थोड़ा स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पहले भाव-प्रधानता को लीजिए। सभी प्रकार के काव्य में भाव भी होते हैं यह सिद्ध बात है। पर सभी प्रकार के काव्यों में भाव ही प्रधान नहीं होते। भाव चूँकि स्वयं में सूक्ष्म है, अतः उनकी अभिव्यक्ति भी सूक्ष्म होगी ही। प्रश्न उठाया जा सकता है कि रीतिकालीन कविता भी तो भावों की कविता रही है। यदि सूत्र रूप में कहें तो रीतिकालीन कविता भावों की कविता नहीं, बल्कि भावों के अभिव्यक्त रूप अर्थात् भावों के भौतिक-शारीरिक विकारों (विकार का [illegible] नहीं है) की कविता है। इसका यह अर्थ नहीं कि छायावाद में

काव्य मे प्रमुखत नहीं हुई। निराला और कुछ अंशों में पंत मे सामाजिक चेतना अवश्य रही है। किन्तु ये कवि छायावादी 'व्यक्ति' का सामाजिक व्यक्ति मे सामंजस्य नहीं कर पाए। उनका छायावाद-युगीन काव्य-व्यक्तित्व द्वैध भावी अथवा विभाजित-सा प्रतीत होता है। 'पल्लव' के बाद से पंत ने तो समाज को ही प्रमुख बना लिया है। माही के शब्दों मे यह पंत का साहसिक संघर्ष (Heroic Struggle) है। पर पंत का सामाजिक व्यक्ति अब भी अपने आदर्श रूप मे मूलत छायावादी ही रहा है, केवल नामान्तर और प्रकारान्तर मात्र हुआ है। अब वे उसे 'दिव्य पुरुष' अथवा ऊर्ध्वचेतन मानव कहना पसन्द करेंगे। स्पष्ट है कि यह 'पुरुष' भी सांख्यीय 'पुरुष' के समान अमूर्त आदर्श है। इस प्रकार पंत अपने अधुनातन रूप मे भी प्रायश छायावादी ही है। हाँ, पिछले कुछ वर्षों मे वे 'मानव', 'मानवता', 'मार्क्स', 'प्रवृत्ति' (अहंकार), अतश्चेतना (प्रकाश) आदि की पुकार पंचम (किन्तु रूखे) स्वर से अवश्य लगाते रहे हैं।

छायावादी काव्य की आध्यात्मिकता[1] (जिसे हिन्दी आलोचक 'रहस्यवाद' कहने के आदी हैं) पूर्व-विवेचित विश्वमानववाद और छायावादी 'व्यक्ति' की एक आवश्यक माँग थी। व्यक्ति, समाज, राष्ट्र, जाति आदि में वर्गित सीमित मानवता मे साम्य की अपेक्षा वैषम्य अधिक है और यह वैषम्य ऐसा है, जिसका स्थूल रूप मे समन्वय नही किया जा सकता। स्थूल समन्वय मे सभवत एक कठिनाई और थी। मानव-जीवन के वैषम्य का कारण आर्थिक ही नहीं, मानव की वंशपरम्परा, धर्म-संस्कार, दर्शन-पद्धति, व्यक्ति-स्वभाव आदि से सम्बद्ध जटिल और सूक्ष्म 'कारण' भी होते हैं, जिनका कोई निश्चित हल प्राप्त करना असभव है। फलत छायावादी कवियों ने मानवतावादी लेखकों से समाधान प्राप्त किया, क्योंकि यह मानवतावाद

1. कुछ आलोचक छायावाद और अध्यात्मवाद (रहस्यवाद) को अलग अलग छील निकालने की चेष्टा करते हैं। मैं इस मत मे सहमत नहीं हूं। मेरी दृष्टि में अध्यात्मवृत्ति छायावाद की अविभाज्य विशेषता है। आशा है कभी उपयुक्त स्थल पर विस्तृत चर्चा करने का अवसर मिलेगा।

रीतिकालीन भाव-विचार नहीं है (पंत, निराला की कुछ कविताएं रीति कल्पनामात्र भी ली है), किन्तु प्राधान्य सूक्ष्म भाव-दृष्टि का ही है। छाया वादी कवि को इसी दृष्टि के कारण नवीन सौन्दर्य-दर्शन, नवीन प्रेम-भावना नवीन नारी-चित्रण, भावुकता, कल्पना, निराशा, आशा, पलायन आदि की बहुचर्चित विशेषताएँ प्राप्त हुईं। इन सबके लिए कहाँ तक सामाजिक कारण उत्तरदायी हैं और कहाँ तक साहित्यिक अनिवार्यता, यह अलग विचार का विषय है। मुझे लगता है कि साहित्य पर समाज के प्रभाव की समाजशास्त्रीय व्याख्या अपूर्ण है। वह सामाजिक पक्ष को अधिक निर्णायक महत्त्व दे देती है। साहित्यिक विकास के लिए अनेक बार साहित्यिक परिस्थितियाँ भी कारणभूत रही हैं।

अमूर्त और भावात्मक था। इसमें किसी वास्तविक आदर्श 'मानवतावाद' की कल्पना थी। दूसरी तरफ से इस रहस्य की खोज करते-करते अध्यात्म और दर्शन तक पहुँच गये। भारतीय सर्वात्मवाद और अद्वैत दर्शन ने इसकी पर्याप्त सहायता की। 'यथापिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' 'एकोऽहं बहुस्याम' आदि की धारणा से सादृश्य अथवा अनेक में एक की स्थापना करने वाली औपनिषदिक विचारधारा छायावादी भाव-सूक्ष्मता के लिए अत्यधिक अनुकूल सिद्ध हुई। सारी सृष्टि में अव्यक्त सत्ता की एकता विद्यमान है—इस विश्वास ने छायावादी कवि मानस को सम्बल प्रदान कर उसमें एक विशेष प्रकार के भावानुकूल वातावरण का प्रसार किया, जिससे कवि प्रकृति के मधुरतम रूप में भी अलौकिक आनन्द प्राप्त करने लगा। सांसारिक वेदना का तिरस्कार कर कवि अनन्त के दर्शन, मिलन, सम्भाषण आदि के गीत गाने लगा। इस प्रकार काव्य धीरे-धीरे कबीर और मीरा की आधुनिक अनुगूँज-सा होता गया। किन्तु इस अध्यात्म दृष्टि ने काव्य का एक बहुत बड़ा उपकार भी किया। कवि के मन-वचन पर सनातन आस्था और महद्भाव का सजीवन प्रभाव सक्रिय हो उठा, जिसने निश्चित रूप से काव्य के कथ्य और शिल्प को अभूतपूर्व प्राणवत्ता तथा जीवन्तता प्रदान की। छायावाद को प्रायः निराशा, कुण्ठा, पलायन, अस्वस्थ शृंगार आदि का काव्य कहा जाता रहा है, जो केवल सतही, मार्क्सवादी अथवा समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिणाम है। वस्तुतः छायावाद महद् आस्था और विश्वास का काव्य है।

अब छायावाद के अप्रचलन के कारणों का लेखा-जोखा भी ले लिया जाए। समाजशास्त्रीय पद्धति के अनुयायी आलोचक छायावाद के 'पतन' का मूल कारण उसकी वायवीयता और सामाजिक जीवन से असम्पृक्ति मानते हैं। पंत तक ने छायावादी परिधान (जो स्यात् उन्हें अब केंचुल जैसा लगता है) को छोड़ते समय आधुनिक कवि की भूमिका में घोषणा की है कि छायावाद के पास नवीन विचार, भविष्य के लिए उपयोगी नवीन आदर्श, नवीन भावना का सौन्दर्यबोध, आदि नहीं था,

भी प्राय इन्ही शब्दो में हुई थी। आश्चर्य है कि यह 'प्रशस्ति' ही 'पत
कारी सिद्ध हुई।

किसी भी काव्य-धारा के अप्रचलन के इतने स्थूल कारण प्रमुख न
होते। कुछ ऐसे सूक्ष्म कारण भी होते हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध काव्य-जगत
होता है। जब कथ्य का पुनरावर्तन अथवा कला-उपकरणों की पुनरावृ
होने लगती है, तब सचेतन काव्य में असह्य स्थिरता उत्पन्न हो जाती है,
नवीन धारा में उन्मेष को जगाती है, प्रेरित करती है। यह पुनरावर्तन सर्व
पिछलग्गू कवियो मे होता है। निन्दको से पिछलग्गू सदैव घातक होते
क्योकि ये कवि सच्ची अनुभूति से प्रेरित न होकर अनुकरण मात्र करते हैं—
सस्ती लोकप्रियता की प्राप्ति के लिए अथवा उस विशिष्ट धारा के 'चल
(फैशन) से आकृष्ट होकर। जब कोई भी काव्यधारा फैशन बन जाती है
तो उसका 'पतन' अवश्यम्भावी हो जाता है, क्योकि फैशन सदैव बहिरग
सम्बद्ध होती है। फलत. काव्य के क्षेत्र मे वस्तु की अपेक्षा वह शिल्प प
अधिक आश्रित रहती है। शब्द-प्रयोग, छन्द-विधान-प्रतीक-योजना, विषय
वस्तु आदि की निश्चितता और एकरसता उसके लक्षण बन जाते है
परिणामत: सच्ची अनुभूति के स्थान पर वस्तु अनुभूति का पोज़ मात्र होत
है, और काव्य पूर्णत. कृत्रिम हो जाता है। उसका भावपक्ष दुरुह, अस्पष्ट
और पारिभाषिक बन जाता है, जबकि कलापक्ष सबल भावो के अभाव मे
निर्जीव और निष्प्राण पच्चीकारी मात्र रह जाता है। ऐसी स्थिति मे भाषा
की बडी दुर्गति होती है। उसके अग-प्रत्यग के साथ कवि खिलवाड करता
रहता है और यह यान्त्रिक खिलवाड वाणी की मार्मिकता और अर्थवत्ता के
लिए बडा पतनशील सिद्ध होता है और काव्य के परवर्ती कवियो को भाषा
का पुन. सस्कार और सजीवन करना पडता है। इस प्रकार काव्य अपनी
एकरसता के द्वारा सच्चे पाठक और सच्चे लेखक दोनों में एक साथ उस
धारा के प्रति मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है, जिससे वह धारा
अप्रचलित हो जाती है।

काव्यधारा के अप्रचलन का एक अन्य सशक्त कारण अनुवर्ती कवियों

अनुभूत हो गया। पर पन्त का मानस भी [illegible]। दूसरा सिलसिला . पन्त का दार्शनिक मानस के संघर्षों से आरम्भ हुआ। उन्हें समझना धर्म, मार्क्स और फ्रायड की [illegible] नहीं आई। मनुष्य के मन में पैठकर दर्शन का 'मोक्ष' वे खोजने लगे। इसके अतिरिक्त पन्त के धार्मिक मानस को वर्ग-संघर्ष की हिंसा भी स्वीकार नहीं थी। पन्त ने मार्क्सवाद के 'गहरे पानी में पैठ' कर खोज की और उसे छोड़ दिया। कुछ समय तक रामकृष्ण की भक्तिधारा, विवेकानन्द की राष्ट्रीय धारा और गांधीवाद में डूबते-उतराते रहे। पर पन्त की आत्मा को शान्ति कहाँ? वे नए-नए रास्तों पर बड़े उत्साह के साथ चले। हर नया रास्ता उन्हें पूर्ण लगा। किन्तु कुछ दूरी पार करते ही वे उसकी संकुचितता, 'एकांगिता' से घबरा उठे। उन्हें समन्वय का विस्तार जो चाहिए था। इस बात के पन्त में दो बातें प्रमुख लगती हैं—अर्द्ध-श्रद्धा और बौद्धिक दृष्टिकोण। अर्द्ध-श्रद्धा की प्रेरणा से हर नया रास्ता पन्त ने अख्तियार किया और बौद्धिक दृष्टिकोण के कारण उसे छोड़ दिया। बौद्धिक विश्लेषण के पश्चात् हर रास्ता अपूर्ण और एकांगी लगा। वह समन्वय कहाँ जिसको वे प्राप्त करना चाहते थे! अरविन्द दर्शन ने पन्त की भटकती आत्मा का उद्धार किया। अरविन्द में समन्वय है—हर प्रकार का समन्वय। अन्य दर्शनों के समान संघर्ष, निराशा और निवृत्ति नहीं, शान्ति, आस्था और प्रवृत्ति है। और पन्त-मानस के सबसे अनुकूल वस्तु भी वहाँ थी—मानव दिव्यात्मा है, वह एक समय दिव्य पुरुष होने वाला है—

धर्मागत नहीं, प्रश्नागत है—कवि 'परिवर्तन' को सर्वोपरि शक्ति मानते हैं, पर पूरी कविता की भंगिमा (Tone) दुख की है, जैसे वे इस परिवर्तन-मय संसार में तुष्ट नहीं हैं, अत्यधिक आहत हैं। यदि वे गहराई से आध्यात्मिक हो जाते (महादेवी, प्रसाद की तरह), तो इतनी व्याकुलता और अनिश्चय की पीड़ा न रहती, एक समाधान प्राप्त हो जाता। सम्भवतः उस काल में पन्त इतने अधिक श्रद्धालु नहीं थे, जितने इस समय—बुढ़ापे में—हो गए प्रतीत होते हैं। छायावादी कवियों में पंत सबसे कम आध्यात्मिक (प्रचलित शब्द का प्रयोग करें तो रहस्यवादी) हैं। दूसरी बात, प्रारम्भ से ही पन्त की अधिकांश लम्बी कविताओं में भाव से चिन्तन अधिक प्रधान दिखाई देता है। इस तरह पन्त छायावादी होकर भी छायावाद से बाहर उलझ रहे प्रतीत होते हैं।

छायावादी कवियों में पन्त ही एक ऐसे कवि थे, जिनमे यथार्थ सामाजिक चेतना प्रारम्भ से ही प्राप्त होती है। 'गुंजन' में वे अनेक बार सुख-दुखों से ग्रस्त मानव-जीवन को आदर्श-स्वरूप देने की चेष्टा करते रहे हैं। 'सुख-दुख के मधुर मिलन' में 'मानव-जीवन' की परिपूर्णता का दर्शन छायावादी कम और 'समाज'वादी अधिक है। 1932 मे लिखी उपर्युक्त कविता की भूमिका पल्लव की 'याचना' (1919) है, जिसमें कवि 'माँ' से किसी दैवी शक्ति, अलौकिक सौन्दर्य अथवा आत्मिक आनन्द की माँग नहीं करता, बल्कि हृदय की कोमलता, मधुर वचन, मधुर तन (व्यवहार), मन (कामना) आदि समाजपरक मूल्यों को प्राप्त करना चाहता है जो समाजद्रोही (अहि) पाशविकता को भी अपने वशीभूत कर ले। 'दुख-दैन्य-शयन पर' लेटी 'रुग्णा जीवन बाला' को 'नवजीवन' का वर देने की सचेष्ट चिन्ता गुंजन-कालीन पन्त के मानस मे छटपटा रही थी। यही छटपटाहट 'उत्तर पंत' के लिए उत्तरदायी है। धीरे-धीरे पन्त मे सामाजिक दु ख आया—नोन-तेल-लकड़ी वाला दु ख, महादेवी मे भी दु ख है, प्रसाद मे भी। पर वह दु.ख अधिक व्याप्त है, आत्मिक और विस्तृत है। फलत उसमे 'नोन-तेल-लकड़ी' के आर्थिक पहलू का रोना-धोना नही। वह प्रमुखतः आत्मा का रोग

पतन न करे तब भी। तो आज का पन्त 'ऊर्ध्वचेतना दिव्य ज्योत्स्ना' और
व्य गौरव को धरती के अवतार पर—मानव के अधःपतन पर—उतारने
ध्यग्न है। अब चेतन अथवा प्रकृतिमय निम्नजीवन का उन्नयन भी उसका
य है। वह समाज के प्रति भी इसी दृष्टि से देखता है। नई सुबह, नई
ताएँ, नए प्रभात मानवता के 'क्षितिज पर' उभर रहे हैं। इस अरविन्द
न के आगोश में कवि तुष्ट-सन्तुष्ट ही नहीं है, आश्वस्त-विश्वस्त भी हो
ा है।

स्पष्ट है कि इस स्थल तक आते-आते पन्त को कई विचारधाराओं में
तैरना पड़ा। पन्तजी इस तैरने को भी 'स्वभाव' कहने पर तुले हुए हैं
र आलोचकगण प्रभाव। प्रभाव तो पड़ा ही है, जाने क्यों पन्तजी
भावित होने का दुराग्रह लिए बैठे हैं। प्रभाव बुरा नहीं होता। अनुकरण
ा होता है। मेरी दृष्टि में तो सच्चा प्रभाव 'स्वभाव' भी हो सकता है।

प्रस्तुत दशक में पन्तजी ने तीन कविता-संग्रह दिए हैं—'अतिमा,'
णी' तथा 'कला और बूढ़ा चाँद'। तीनों के कथ्य में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है,
स्वरूप में साम्य ही है। साम्य का आधार है अरविन्द दर्शन। 'अतिमा'
अर्थ कवि ने लिया है—अतिक्रान्ति, वह मन स्थिति जो आज के भौतिक
ास के सांस्कृतिक परिवेश को अतिक्रम कर चेतना की नवीन क्षमता से
प्राणित हो। अत 'अतिमा' दार्शनिक काव्य अधिक है। यह चेतना
विन्द की अतर चेतना अथवा ऊर्ध्व चेतना है, जो अवचेतन अथवा अध -
न के परिवेश का अतिक्रम करना चाहती है। अधिकाश कविताओं मे
चेतना को काव्य का बाना पहनाने की कोशिश की गई है। कवि
न स्तर के इद्रिय-जीवन से न घृणा करता है और न उसका तिरस्कार।
य-जीवन मे भी चेतन प्रभात आएगा, नया जागरण होगा :

> इंद्रिय कमल पुरी में निद्रित,
> मुग्ध विषय मधु रज में मज्जित,
> जाग उठा, लो, नव प्रभात मे,
> मन मधुकर, स्वप्नों से उन्मन !

मे वही यौवन आ पाया है, जो पल्लव और गुंजन के प्राकृतिक काव्य मे था।

कुछ कविताएँ विविध विषयक हैं—जैसे 'युगमन के प्रति', 'नेहरू युग', 'जन्मदिवस', 'सदेश' आदि। इनमे 'जन्मदिवस' कविता बहुत अच्छी है। सुन्दर, स्वाभाविक, मार्मिक भाषा मे बचपन के जीवन का वर्णन है, प अन्त मे आते-आते फिर वही अरविन्द ? 'शिव को शिवतर' करने का मकसद ? 'नेहरू युग', 'युगमन के प्रति' आदि ऐसी कविताएँ, हैं जो वस्तुत उन्हे नही लिखनी चाहिए थी।

पत के काव्य मे प्रारम्भ से ही एक अवगुण रहा है—वह है अनावश्यक विस्तार की प्रवृत्ति। इससे उनके काव्य मे कसाव नही आ पाया। शब्दो का खर्च पतजी खुलकर करना पसन्द करते हैं। पर कवि को इस निधि के वितरण मे थोडा कजूस होना चाहिए। मेरा सकेत निश्चित रूप से 'परिवर्तन', 'भावी पत्नी के प्रति', 'अप्सरा' आदि कविताओं की ओर है। विस्तार की प्रवृत्ति का स्वाभाविक दोष कथ्य की पुनरावृत्ति होता है। वह पन्त की प्राय सभी लम्बी कविताओं मे विद्यमान है। 'परिवर्तन' में दृष्टान्तो की भरमार ने कविता की जान ले ली। 'अप्सरा' उपमाओ के विकट अलकारो ने निष्प्राण, स्थूल भारवाहिका मात्र रह गई। यह काव्य-प्राण-घातक दोष अनिमा की लम्बी कविताओ मे काफी है, 'सन्देश' की मार्मिकता, 'जन्मदिवस' की प्रवाहयुक्त रसधारा, 'पतझर' की तीक्ष्णता, सबका प्रभाव इसी विस्तार-वृत्ति ने धूम डाला है। बाद की रचना 'कला और बूढा चाँद' मे पन्त ने अप्रत्याशित सयम का परिचय दिया है। सभवत इसके अनेक कारण रहे हो, जिनका उपयुक्त स्थल पर विवेचन होगा।

कथ्य की दृष्टि से 'उत्तरा' के पश्चात् पत मे कोई नवीनता नही आई। 'उत्तरपत' के पूरे कथ्य को एक शब्द मे रखा जा सकता है—अरविन्द दर्शन की चेतना। प्रतीक भी प्राय सीमित रहे हैं—नव अरुणोदय और उसके पर्यायवाची, हरित अथवा स्वर्णिम पावक, अधगुहा, अधकार, चाँद मनसिज आदि। किसी भी 'चेतना'-उन्मुख कविता का 'प्रभात' अथवा इसके पर्याय

सक्षेपतः कवि शुष्क दर्शन, तर्क, विज्ञान आदि की उपेक्षा करता है और जड़ता के माध्यम से ऊर्ध्व चेतना अथवा अन्तश्चेतना का विकास करना चाहता है। इस प्रकार की चेतना से युक्त उनकी मानवता है, मानव है। किन्तु हैं ये सब आगामी। वह मानव आएगा—इस विषय मे कवि आश्वस्त है 'मनुज द्वार पर' 'महत् युगान्तर आज उपस्थित' देख रहा है। अतिमा की प्राय. प्रत्येक कविता मे यह विश्वास और श्रद्धा व्याप्त है। निश्चित रूप से इस अडिग विश्वास और अतल श्रद्धा का आधार अरविन्द-दर्शन है।

'अतिमा' का कवि प्रमुखतः आध्यात्मिक चिन्तक है। पर उसके अध्यात्म मे मानवता समाहित है। किन्तु सामाजिक वैषम्यों की पीडा और कष्ट की अनुभूति नही है। अब कवि शोषित, पीड़ित और दुखी सामाजिक की ओर आकृष्ट नही होता, मानव अथवा मानवता की ओर झुक गया है। यह आध्यात्मिक दृष्टिकोण का प्रतिफल है। पन्त के काव्य मे अब जीवन्त सामाजिक समस्याएँ नही, सूक्ष्म और अव्यक्त 'मानवता' की समस्या है। दुर्भाग्य से उसका पेटेन्ट समाधान (अरविन्द) भी उन्हें प्राप्त हो गया है। क्या पन्त का यह 'मानव' छायावाद के 'व्यक्ति' से मिलता-जुलता नही है ? अव्यक्त, सूक्ष्म और अध्यात्म-वेष्टित ! सक्षेपतः कवि आत्मतुष्ट और विश्वस्त लगता है।

'सोनजुही', 'पतझर', 'कूर्माचल के प्रति', 'गिरिप्रातर', आदि कुछ प्रकृतिपरक कविताएँ हैं। प्रकृति के प्रति पन्त मे अभी भी वही छायावादी आकर्षण है—उपनयन (पन्तजी का शब्द है) भी वही है। उस समय किसी अनाम अदृष्ट सत्ता का आभास प्रकृति मे प्राप्त करते थे, अब 'अरविन्द'—सत्ता का। पर एक बडा अन्तर भी हो गया है। छायावादी पन्त का प्रकृति से सहज तादात्म्य प्रतीत होता है, प्रकृति वहाँ प्रमुख है, अन्य आध्यात्मिक बातें गौण। इसलिए वह प्रकृति-काव्य अधिक सजीव और प्रभावोत्पादक है। अब तो प्रकृति उपकरण अथवा साधन मात्र रह गई है। कवि के व्यक्तित्व का अविभाज्य अंग नहीं है। इसीलिए इन सग्रहो में प्रकृति का अत्यन्त विरल है। फिर भी प्रकृति के वर्णन मे उनकी

मार्मिकता कहाँ से आएगी। शब्दों की जीवनी-शक्ति कोशों में नहीं जिह्वाओं में है। यदि उन्हीं जिह्वानिःसृत शब्दों में, विशेष संदर्भ और कथन-भंगिमा से रसदायी प्रभाव उत्पन्न करता है। इन शब्दों की भाषा कविता के पीछे दौड़ती है, जबकि कोशीय भाषा कविता पर अपना पाषाण सिंहासन स्थापित कर लेती है। पाठक में न तो सिंहासन के नीचे देखने की प्रवृत्ति है और न उसके पास इतनी फुरसत ही। इसका यह अर्थ नहीं कि पंतजी की भाषा में जीवन-शक्ति नहीं है। जहाँ पर कवि की अनुभूति गहन है, वहाँ भाषा प्राणवान् है। 'जन्मदिवस का पूर्वांत', 'सोनजुही' आदि कविताओं और कुछ गीतों में भाषा का यह सशक्त मार्मिक रूप द्रष्टव्य है। चिन्तन-प्रधान कविताओं में (शान्ति-क्रान्ति, जीवन-प्रवाह आदि) भाषा मरी हुई है, मिस्रदेशीय ममी के समान। इसका प्रमुख कारण कवि का चिन्तन अनुभूति नहीं हो पाया है। बड़े-बड़े कोशीय शब्द तर्कासीन हो तो सार्थक हो जाते हैं और काव्यासीन हो तो निरर्थक। ऐसी स्थिति में 'काव्य' तुकबन्दी रह जाता है।

संग्रह के गीत छायावाद की याद दिलाते हैं। विशेषत प्रार्थना अथवा याचनापरक गीत छायावादी पंत, महादेवी, निराला की शैली के हैं। उनमें सुन्दर अभिव्यक्ति, भावुकता और मुक्त कल्पना के दर्शन होते हैं। वस्तुत ऐसी ही अभिव्यक्ति, भावुकता और कल्पना पंत के मूल काव्य-गुण हैं। काश कि पंत दर्शन-व्यामोह में इनका गला न दबाते।

'वाणी' 'अतिमा' के बाद की रचना है। मुख्य स्वर 'अतिमा' का ही है, केवल परिप्रेक्ष्य और संदर्भ थोड़ा भिन्न है। यहाँ सामाजिक स्तर पर अधिक बल है। बाह्य विषमताएँ और अभाव अधिक मुखर हैं। पर कवि की आशा अभावग्रस्त नहीं है। इस आशा के आलोक में वह आगन्तुक समन्वय और सुख को पहचान रहा है विकासक्रम के माध्यम से। उसका 'जीवन की दिग्[illegible]रचना' में दृढ़ विश्वास है, जो 'आत्मा कर इन्द्रिय मन को, इन्द्रिय मन कर आत्मा को अर्पित' का आदेश देती है। 'अतिमा' का बुद्धि-विरोध यहाँ भी है, बुद्धि 'अरूप' जो है। कवि को अब 'अनुभूति' चाहिए। इसका

द आदि सब आ जाते हैं, गद्यात्मक और द्विवेदीयुगीन इतिवृत्तात्मक
।

समाज में व्याप्त वैषम्य, अप्रिय, कटु यथार्थ के प्रति विक्षोभ,
भिव्यक्ति भी अनेक कविताओं में हुई है (कौवे, आत्मदान, · ि
) । 'पोपेनाग' कविता में शायद नई कविता (प्रयोगवादी) पर भा
नकी मजाक तक उड़ाई गई है ।

अन्य अनेक कविताओं का विषय 'अनिमा'-ध्वनित ही है । भाषा, प्रतीक
द के बारे में भी 'अनिमा' की बातें प्रायशः सत्य हैं । स्वर की पुनरावृत्ति
नवीनता का परिचायक है । भाषा और काव्य की कृत्रिमता (Artifi-
ality) उस 'पतन' में सहायक होती है । 'वाणी' तक के कवि पत के लक्षण
न्दे नहीं हैं । वह 'पतित' की संज्ञा की ओर असामान्य गति से दौड़ रहा
।

इस चेतना-धारा की अन्तिम कृति है 'कला और बूढ़ा चाँद' । 'वाणी'
: सामाजिक स्पर्श को धो-पोंछ दिया है । इसमें शुद्ध, शुभ्र शारदीय चेतना
ा विहार हो रहा है । प्रस्तुत ग्रन्थ कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है । एक तो यह
बहुचर्चित नहीं, बहुप्रशंसित ग्रंथ हो चुका है । साहित्य अकादमी ने इसे पुर-
स्कृत किया है, यद्यपि साहित्य अकादमी के पुरस्कार ग्रंथों की श्रेष्ठता के
मापदण्ड नहीं होने चाहिए (पंजाबी के लेखक गार्गी को अभी अभी 'भार-
तीय रंगमंच' पर पुरस्कार दिया गया है जिसमें यशोधरा को कृष्ण की माँ
बनाया गया है) । प्रस्तुत ग्रंथ की दूसरी विशेषता है—इसकी अभिव्यक्ति-
पद्धति । अब तक (वाणी तक के) पंत उलटकर स्वयं अपने सम्मुख ही
जैसे खड़ा हो गया हो—न छन्दों की परम्परा, न प्रतीकों का गौण स्वरूप और
न लम्बी-चौड़ी व्याख्याएँ । पंतजी इसको स्फुरण (रश्मिपदी) काव्य कहते
हैं । स्फुरण काव्य (Intuition) में दृश्य (Vision) प्रमुख होता है, बौद्धिक
संयोजना अत्यन्त अप्रमुख । फलतः इस काव्य के दुरूह होने की संभवता है ।
यदि दृश्य खण्डित नहीं है और स्फुरण सर्वांग हुआ है, तो काव्य में अनायास
कलात्मक अन्विति आ जाती है, जो उसे भावगम्य बना देती है । 'कला और

यह अर्थ नहीं कि कवि चिन्तन नहीं चाहता। चाहता है, पर उसका य
रूप है :

आज चाहिए सामाजिक चिन्तन,
जग को, सामूहिक जीवन
भूस्तर पर उन्नयन ।

'सुन्दर-कुरूप', 'ऊँच-नीच' के भेद कवि हरना चाहता है, कर्म, वचन, मन की एकता का प्रवचन देता है और 'प्रेमपूर्ण है, पूर्ण, पूर्णतम' का मंत्र प्रदान करता है। इस तरह मानवतावादी सामाजिक आदर्श की अवतारणा करना चाहता है। विज्ञान के विकास में कवि पस्त है। कवि महाप्रलयकारी विज्ञान ('अग्निसंदेश') से 'नव मनुष्य' 'मानस का नवनीत' संयुक्त करना चाहते हैं। कहीं धर्म, नीति, संस्कृति आदि से पराजित मानव को सम्बुद्ध कर रहे हैं (अभिषेक), तो कहीं कृत्रिम शहरी सभ्यता से अकुलाकर गाँवों की ओर भाग जाने की इच्छा करते हैं। 'चैतन्य सूर्य' का समय आ गया है, मानव को भीतर से बदलने की सलाह देते हैं।

रामकृष्ण, बुद्ध आदि जितने भी मानवता-उद्धारक महामानव हो चुके हैं, उनसे एकांगिता छोड़ने का आग्रह कवि करते हैं, अरविन्द की 'सर्वांगिता' वे प्राप्त करें ऐसी कवि की अभीप्सा है। कवि के अनुसार बुद्ध, कृष्ण, गीता, शंकर आदि सबके दर्शन अर्द्ध-सत्य हैं, क्योंकि इन्होंने विरक्ति, निवृत्ति और निष्क्रियता को प्रचारित किया है। आश्चर्य है पंतजी गीता के कर्मयोग और पौराणिक भक्तियोग को भी विरक्ति और निवृत्ति-परक मानते हैं। अरविन्द में अन्धश्रद्धा के आवरण उनके बुद्धि-चक्षु पर छा गये हैं 'वाणी' में भी वे बुद्धि का विनाश करने पर तुले हुए हैं। 'आत्मिका'

'कला और बूढ़ा चाँद' मे कथ्य 'अनिमा' वाला ही है। यहाँ ... कला' का रूप धारण कर 'बूढ़ा चाँद' (कवि-मानस अथवा मान... को भाव-विह्वल बना देती है, तो कभी वह मधुमक्खी का रूप धारण जीवन का आदर्श उपस्थित करती है। मानस की ससार-गुणोन्मुख इन्द्रिय-वृत्ति—नदियों को 'धेनुएँ' मानकर उन्हें स्वय के भीतर ही झाँकने की कवि सलाह देता है। उन्ही नदियों के माध्यम से कवि मानवता का वोहित्य खेना चाहता है। अर्थात् इन्द्रियवृत्ति के सहयोग से कवि चेतन मानवता का निर्माण करना चाहता है। 'देहमान' कविता मे मानव-आकांक्षा को धरा पर (मानवीय आधार पर) ही रहने का आदेश देता है, क्योंकि उत्तर दिशा (प्रतीक स्वर्ग और ज्ञान) मे तुम्हारा कोई अस्तित्व और मूल्य नही रहेगा। स्वर्ग मत जाओ—तुमसे अधिक सौन्दर्य और विलास वहाँ पर है। ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा मत करो, क्योंकि ज्ञान थोथा है। 'ज्ञान' के तो पन्तजी हाथ धोकर पीछे पड़े हैं। 'अनिमा' और 'वाणी' में भी ज्ञान का तिरस्कार है। परम्परा को छोड़कर अवचेतन के अन्धकार को कवि विनष्ट करता है और ईश्वर से सयुक्ति मे सगति और आनन्द देखता है। अधिकाश कविताओ मे इसी चेतना का प्रतीकात्मक वर्णन है। कुछेक कविताओं में समाज, विज्ञान, सस्कृतिपरक सवेग भी आए हैं। पर सब प्रकार के रोगों की रामबाण औषधि है चेतना। 'वाचाल' जैसी कुछ व्यग्यात्मक रचनाएँ भी हैं।

'कला और बूढ़ा चाँद' में पद्य नहीं, गद्य है, जिसको आगे-पीछे सेट करके नयी कविता का रूप दिया गया है। यह प्रवृत्ति न नयी कविता में ही अच्छी है और न पन्तजी में ही। पन्तजी में तो यह असह्य है—क्योंकि वे वयोवृद्ध व सर्वश्रेष्ठ जीवित कवि है। इसका आगामी काव्य पर बहुत बुरा असर पड़ सकता है। हर नया कवि उनका अनुकरण करते हुए, ऊटपटाग गद्य को काव्य में खपा देगा। फिर पन्तजी को यों गद्यवत् होने की आवश्यकता ही क्या थी? अन्त स्फुरण का बहाना बड़ा लँगड़ा है। प्राचीन आध्यात्मिक कवियो ने 'अव्यक्त' को भी छन्द मे 'व्यक्त' किया है। पन्तजी में सामर्थ्य नही है—यह भी समझ में नही आता। नये बनने की सायास चेष्टा से काव्य

बूढ़ा चाँद' में कैसा स्फुरण है, यह बाद में विचार करेंगे। पहले पंत की इस विपरीत मुख (About turn) मुद्रा को समझने की चेष्टा करें।

'कला और बूढ़ा चाँद' की सर्जना के लिए दो कारण जिम्मेवार प्रतीत होते हैं। प्रारम्भ से ही पन्त में युग-धारा (अर्थात् युग-साहित्य-धारा) से कदम मिलाकर चलने की दुर्दम इच्छा रही है। उन्हें out of date कहलाना नापसन्द है। अतः वे इससे सदैव बचते रहे हैं और updateहोने का सक्रिय प्रयास भी करते रहे हैं। 'कला और बूढ़ा चाँद' नये कवियों (प्रयोगशील कवियों) की श्रेणी मे ससम्मान स्थित होने की चेष्टा हो सकती है। नयी कविता यदि टेकनीक ही है, तो पन्त नये कवि ही नही, उनके अगुआ भी माने जा सकते हैं। (एक बार अगुआ प्रगतिवादियों के रह भी चुके हैं।) पर नयी कविता में वह चेतनायुक्त श्रद्धा कहाँ? पन्त का 'बूढ़ा चाँद' ऊर्ध्वगामी है, जबकि नई कविता अध.पतन की खण्डित अस्तित्व-स्थिति। दूसरा कारण आलोचकों का कटु रुख भी रहा है। यह कारण अनुमित ही है—पन्तजी खुलासा करें तो सहमत-असहमत होने के अवसर प्राप्त हों। पन्तजी ने आलोचकों से हमेशा सघर्ष किया है, पर कालान्तर मे उनकी बात मान भी ली है। इधर के पन्त-काव्य के विषय मे चारो ओर से शोर उठ रहा था कि इसमें व्याख्या बहुत है, इस कारण यह नीरस और अमार्मिक होता जा रहा है। 'कला और बूढ़ा चाँद' में कवि ने आक्रामक चुनौती दी है—"कहो व्याख्या है क्या? अब क्या कहोगे? व्याख्या का प्रश्न ही नही उठता, भाषा ही कहाँ है, बस मात्र प्रतीक। अर्थ निकालने के लिए सिर धुनो।" अन्त स्फुरणात्मक प्रतीक जो हैं। तीसरा कारण भी कल्पित किया जा सकता है। पन्त शायद अनुभूति के उस स्तर तक पहुँच चुके हैं, जो वाणी में प्रकट नही किया जा सकता, योगियों और तन्मय भक्तों की अनुभूति, गूँगे का गुड़। यदि आपको पन्त की सचाई मे विश्वास है तो यह कारण मान्य हो सकता है। प 'अतिमा' और 'वाणी' मे भी तो पन्त चेतना-सिद्ध व्यक्ति की तरह बा करते हैं। यह शिल्प का कायाकल्प अभी क्यों हुआ? व्यक्तिगत रूप मे मुझ

फिर भी कुछ स्थलों पर बिम्बविधान और अभिव्यक्ति अः

> कहो,
> दिशाएँ
> उषा के सुनहले पावक में
> लिपटी रहें—
> दिवस का
> रुपहला बालक
> जन्म ही न ले।
>
> कहो,
> शुभ्र कुंई-से उरोज खोल
> दुग्ध-स्नात चाँदनी
> चाँद के कटोरे में
> सुधा पीती रहे—

ऐसे स्थलों पर पन्त का स्वाभाविक नया कवि मुखर हुआ है। और ऐसे कुछेक स्थल भी पन्त को महान् कवि बनाने में समर्थ हैं।

सक्षेप में 'कला और बूढ़ा चाँद' में कथ्य का पुनरावर्तन है, पर भंगिमा नई है, जो कभी लुभाती है, कभी उबाती है और कभी पस्त भी कर देती है। फिर भी पन्त के काव्य में इसका महत्त्व है। क्योंकि यह भंगिमा एक विशेष प्रकार की ताज़गी और नवीनता का संचरण करती है।

पन्तजी के ये तीनों संग्रह उनके अध्यात्मवादी स्वर को मुखर कर रहे हैं। इस तरह पन्त घूम-फिरकर उसी छायावादी गन्तव्य पर पहुँच गए हैं, जहाँ प्रसाद, महादेवी, निराला पहले ही पहुँच चुके थे। पन्त का रास्ता चक्करदार और काँटेदार झाड़ियों के बीच से गुज़रा। अतः इस जटिल यात्रा में पन्त के काव्य की सुकुमारता, तरलता और मांसलता झाड़ियों में नुच गई। जो कुछ शेष है, वह 'जरा' के अन्तर्मन में समाविष्ट हो गई। इसमें माधुर्य तो 'उच्छ्वास' में ही रहा, 'वाणी' तो वाच्यातिक्रम कर 'अतिमानस' हो गई। अब 'बूढ़ा चाँद' कला की गोद में पड़ा आत्मतुष्टि का बहाना कर

दिखाई देती है—अद्भुत धनुष-कौशल और आदर्श गुरुभक्ति ने ये दो गुण तो लिये ही हैं, पर काव्य को युगानुरूप बनाने के श्रेय-प्रेय गुणों की योजना भी की है। अछूतोद्धार का आन्दोलन इस का प्रेरणा-स्रोत है। एकलव्य निषाद होने के कारण इस आन्दोलन का युक्त प्रतिनिधि बन सकता था। अत: डॉ० वर्मा ने एकलव्य का पुनर्निर्माण किया है और यथासंभव द्रोणाचार्य के चरित्र पर पक्षपात का जो कलंक लग गया है, उसका प्रक्षालन करने की चेष्टा भी कवि ने की है। इस काव्य का विस्तार चौदह सर्गों तक है।

आरम्भ में काव्य-वस्तु के अनुरूप कवि ने किरातराज महादेव, वाल्मीकि आदि की स्तुति की है। हस्तिनापुर में द्रोणाचार्य की राजगुरु के रूप में नियुक्ति, द्रुपद द्वारा द्रोण का अपमान, द्रोण का गुरु रूप, एकलव्य का प्रतिमा-सम्मुख अस्त्राभ्यास, एकलव्य-माता की वियोग की व्याकुलता, द्रोण का स्वप्नदर्शन, एकलव्य-द्रोण मिलन आदि प्रसंगों के चित्रण में कवि ने मौलिक संयोजन का परिचय दिया है। कथा में घटनाएँ कम हैं, क्योंकि कवि ने मूल के अधिक इधर-उधर जाना उचित नहीं समझा है। फिर भी कथा में प्रवाह है।

चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एकलव्य में शील, साहस, नम्रता, शौर्य, माता-पिता में प्रेम, आदर्श गुरु-भक्ति आदि गुण चित्रित हुए हैं। एकलव्य में अतीव आत्मविश्वास और श्रद्धा है। आत्मिक प्रेरणा से ही वह अस्त्रा-भ्यास में विस्मयकारक कौशल प्राप्त कर लेता है। एकलव्य वीर साहसी होने के साथ-साथ गरीबों के प्रति अत्यन्त सहानुभूतिशील भी है। एकलव्य में कहीं भी सामाजिक विद्रोह, अन्याय के प्रति प्रतिशोध अथवा स्वशोषण की चेतना नहीं है। इसलिए एकलव्य का पात्र आदर्श पात्र ही है, पूर्णत पुस्त-कीय। उसमें युगानुरूप जीवन का स्पन्दन और चैतन्य नहीं है। संभवत: कवि महाभारतीय चरित्र में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन करना नहीं चाहता हो। द्रोण के चरित्र में महाभारतीय कठोरता और संकीर्णता के स्थान पर कोम-लता और उदार हृदयता का समावेश किया गया है। गुरु-दक्षिणा वाले प्रसंग

रहा है। पहले (यदि [illegible]) पुरुष [illegible] को गोद में [illegible] थी। यह उचित है या दुर्नीति [illegible] विचार करें। [illegible] रूप में कभी कभी [illegible] को पढ़ते समय मुझे महसूस हुआ है कि [illegible] की तरह [illegible] अधिक अच्छा होगा।

डॉ० रामकुमार वर्मा - इस खण्ड में डॉ० रामकुमार वर्मा का 'एक-लव्य' महाकाव्य प्रकाशित हुआ है।

हिन्दी के आधुनिक काल में महाकाव्य लिखने की परम्परा उसी प्रकार चल रही है, जिस प्रकार रीतिकाल में लक्षण-ग्रन्थ लिखने की परम्परा चल रही थी। महाकाव्य लिखे बिना कोई महाकवि कैसे हो सकता है। कितने अधिक महाकाव्य लिखे गये हैं, इसका अनुमान (पढ़ने की किसे फुरसत है) तो आधुनिक महाकाव्यों पर हुए शोधकार्य से लगाया जा सकता है—शायद दो-तीन शोध-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

छायावाद-काल में त्रिमूर्ति के अतिरिक्त जिन कवियों को प्रमुख माना जाता है, उनमें एक नाम डॉ० वर्मा का भी है। पर उसी समय से नाटककार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे। वे समर्थ नाटककार हैं यह कथन निर्विवाद है। तब से वे नाटक ही लिखते रहे हैं। हिन्दी का साधारण पाठक सम्भवतः भूल-सा गया कि डॉ० वर्मा कवि भी हैं। उनका परिचय डॉ० वर्मा के नाटककार, आलोचक और सफल अध्यापक के रूपों से ही अधिक था। 'एकलव्य' मानो ढिंढोरा पीटकर यह रहा है कि वर्माजी कवि भी रह चुके हैं।

'एकलव्य' महाभारत में वर्णित कथा पर आधारित है। महाभारतकार ने इस आख्यान को अधिक महत्व नहीं दिया है। केवल ३० श्लोकों में इसका वर्णन किया है। इस संक्षेप का उत्तरदायित्व महाभारत के क्षेत्र की विशालता है। महाभारतकार की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी निस्संगता। दुर्योधन, कर्ण आदि खलपात्रों को भी कवि ने पर्याप्त सहानुभूति प्रदान की है। एकलव्य का आख्यान संक्षिप्त है, किन्तु इस संक्षेप में भी उसके व्यक्तित्व की विराटता अंकित हुई है। महाभारतीय एकलव्य में दो ही प्रमुख विशेषताएँ

विद्रोह भी। छायावाद की जिस शृंगारमय भाव-प्रवणता का उल्लेख पहले हो चुका है, वह और भी मांसल और शारीरिक होकर इन कवियों में चित्रित हुई है। रूपक की भाषा में कहें तो छायावाद की 'भावी पत्नी' (पन्त) के गर्भ से इस काव्य का जन्म हुआ है। इस काव्य का मूल विषय प्रेम है, शुद्ध सांसारिक वायरोनिक प्रेम। फलतः इस काव्य में उस साधारण मानव की सुख-दुःखात्मक प्रेम-भावनाएँ चित्रित हैं, जो अब तक प्रायशः उपेक्षित ही रही थी। इस प्रेम का आधार शुद्ध वासना है, जो ऐन्द्रिक होने के साथ-साथ व्यक्तिनिष्ठ भी हो गई है। इसी कारण यह रीतिकालीन भ्रमरी वृत्ति से बच सकी है। *सूत्र रूप में इन कवियों का प्रेम स्वकीयाभाव का ही है,* परकीयाभाव का नहीं। यह वासना आदर्शरूपा है, क्योंकि वासना जब जीवन की सहायक होती है, तब वह आदर्शरूपा और विशिष्ट हो जाती है और जब वह जीवन का लक्ष्य हो जाए, तो उच्छृंखल विलास और व्यभिचार बन जाती है।

दुर्भाग्य से इन कवियों का प्रेम अधिकांशतः असफल ही रहा है। प्रेम की असफलता के प्रायः दो कारण होते हैं—प्रेमी या प्रेमिका की उपेक्षा करें—जो प्रायः उर्दू काव्य में आए दिन होता रहता है—अथवा समाज प्रेमी-प्रेमिका के बीच बाधा रूप हो जाए। पहला कारण परकीयाभाव में प्रभावकारी होता है, जबकि दूसरा स्वकीयाभाव में। क्योंकि समाज तो सामाजिक प्रेम में ही बाधा पहुँचा सकता है, व्यक्तिगत सम्बन्ध में नहीं। इन कवियों का प्रेम सामाजिक रूढ़ियों के कारण असफल है। अतः इस काव्य में समाज के प्रति उपेक्षा, विद्रोह और आक्रोश की भावना प्रबल है। कभी कवि सामाजिक अत्याचार और दमन से पीड़ित हो रुदन करता है तो कभी उसके विनाश का संकल्प। कभी वह अपनी दीवानी हस्ती से समाज को प्रभावित करना चाहता है तो कभी अपने अहंकार से ब्रह्माण्ड को हस्तामलक करना चाहता है। संक्षेप में इन कवियों में विरह है (जो कभी-कभी इतना कृत्रिम भी हो गया है कि रीतिकाल की याद आए), पीड़ा है, विद्रोह है और एक अजब तरह की दीवानगी, अक्खड़पन और फक्कड़पन है (जो 'फ़ारसीपन'

में द्रोण को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। कवि के अनुसार भीष्म द्वारा राजगुरु के रूप में जब द्रोण की नियुक्ति की गई, तब द्रोण ने अर्जुन को अद्वितीय धनुर्धर बनाने की प्रतिज्ञा की थी। फलतः अंगुष्ठ-भीख के लिए द्रोण नहीं, वह प्रतिज्ञा उत्तरदायी है। वर्माजी ने स्थिति को संभालने का भरसक प्रयास किया है। यह कारण इतना आसान और सरल है कि विश्वसनीय नहीं प्रतीत होता। द्रोण के इस कलंक-निवारण की चेष्टा ही काव्यात्मक दृष्टि से अनुपयोगी है। द्रोण का चरित्र इस कलंक के कारण ही प्राणवान् है। 'एकलव्य' का एकलव्य भी वस्तुतः द्रोण की उपस्थिति में ही अधिक प्राणवान् होता; एकलव्य के चित्रण में महाभारतकार की कला और महानता और भी अधिक निखर गई है। कवि ने अर्जुन को गिरा दिया है। यहाँ वह स्वार्थी, राजनीतिकुशल राजकुमार मात्र है।

वर्णन साधारणतः अच्छे हैं, शैली वही छायावादी—जो कवि की प्रतिभा के अनुकूल है। अतः कहीं-कहीं अत्यधिक मार्मिकता आ गई है। भाषा भी परम्परागत और प्रौढ़ है। कहीं-कहीं जहाँ कवि ने व्याकरण और काव्यशास्त्र-सम्बन्धी उपमानों का प्रयोग किया है, वहाँ अलंकार-विधान बड़ा नीरस और बोझिल हो गया है। 'एकलव्य' महाकाव्य के शास्त्रीय लक्षणों का अनुसरण नहीं करता। शास्त्रीय लक्षण युग-विशेष की काव्यधारा और चेतना को लक्ष्य में रखकर बनाए जाते हैं, इसलिए आधुनिक संदर्भ मेंउनका अक्षरशः पालन अनावश्यक है। संक्षेपतः 'एकलव्य' में मानवतावादी विचारधारा, अछूतोद्धार आदि समस्याओं को निरूपित करने की चेष्टा हुई है।

कलाकारिता की दृष्टि से यह एक साधारण महाकाव्य है। इतना श्रम यदि डॉ॰ वर्मा नाटक लिखने में करते तो हिन्दी साहित्य की अमूल्य सेवा होती।

: 2 :

बच्चन, अंचल, भगवतीचरण, नरेन्द्र आदि का काव्य छायावाद की प्रतिक्रिया नहीं, विकास-रेखा है। इस काव्य में परम्पराभुक्ति भी है और

गया। अहंकारोक्तियों और अपनी दीवानगी की दुहाई से इन्होंने अपना टोन्ना प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की है—पर अन्दर से ये आस्थाहीन और निराधार हैं। सामाजिक व्यक्ति की पूर्णता सदैव दर्शन अथवा अन्य किसी मत के बाहरी सम्बल का सहारा लेती है, जिसे ये विद्रोह की आँधी में खो चुके थे।

यह काव्य सामाजिक व्यक्ति पर केन्द्रित हो गया, फलत आसानी से इस युग के कवि सामयिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर भी कविताएँ लिखते रहे। ये कविताएँ प्रमुखत राष्ट्रीय और अंशत प्रगतिवादी रहीं। काव्य की दृष्टि से ये साधारण कोटि की कविताएँ हैं।

छंद में कोई नवीनता नहीं आई। व्यक्तिपरक भाव-प्राधान्य के कारण गीतों की रचना अधिक हुई। प्रबन्ध-काव्य तो नगण्य ही रहे। इस प्रकार की आस्थाहीन मन स्थिति से प्रबन्ध-काव्य की आशा करना हवा में महल बनाना ही है। गीतों में गेयता और अधिक आ गई थी। हाँ, भाषा में अवश्य ताजगी और नवीनता के दर्शन हुए। छायावादी भाषा अमरकोशीय तत्सम-प्रधान थी, जबकि इन कवियों ने सीधी-सादी बोलचाल की चलती भाषा में काव्य लिखा। इस भाषा में अभूतपूर्व व्यंजना और मार्मिकता का समावेश हो सका है। यह इन कवियों की प्रशंसनीय सफलता है।

बच्चन—पिछले दशक में बच्चन के कई कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं, 'धार के इधर-उधर', 'आरती और अंगारे', 'बुद्ध और नाचघर', 'त्रिभंगिमा' और 'चार खेमे चौंसठ खूँटे'। 'धार के इधर उधर' की भूमिका से ज्ञात होता है कि इस संग्रह में '40 से '56 तक की 'विशेष अवसरों पर अथवा विशेष मानसिक परिस्थितियों में लिखी हुई' कविताएँ हैं। इसमें कुल 64 रचनाएँ हैं, जिसमें प्राय सभी व्यक्ति के बाह्य पक्ष से सम्बद्ध हैं। 'मधुशाला', 'आकुल अन्तर', 'मिलन यामिनी' आदि के मधुपायी प्रेमी का स्वर कठिन अनुसंधान पर भी नहीं मिलेगा। बच्चन के काव्य का शुद्ध मानवीय आधार होने के कारण वे आसानी से इधर (मधु और प्रेयसी)

डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी को बहुत पसन्द है)।

शराब का निराश प्रेमी से बहुत पुराना सम्बन्ध है। इस काव्य में भी शराब सज-धजकर आई बच्चन में सर्वाधिक, अन्य कवियों में कभी-कभार। पर बच्चन की यह शराब न देशी थी और न अंग्रेज़ी। यह ईरान से लाई गई थी। इस पुरानी शराब का हिन्दी-श्रोताओं पर (पाठकों पर नहीं) भयंकर नशा हुआ, क्योंकि यह मादक कंठस्वर में घोलकर पिलाई गई थी। पर था यह नशा ही—अमृत नहीं, जो जीवन को सुख में बोर दे। उमर खैयाम की शराब अमृत थी, उसमें गम्भीर दर्शन बताया जाता है। बच्चन की शराब शुद्ध थी, जो 'मन्दिर', 'मस्जिद' के नामों के साथ बेची गई। बिक्री खूब हुई और खूब पैसा बरसा। मैं 'मधुशाला' अथवा 'हालावाद' को शुद्ध व्यापारिक सफलता मानता हूँ। और इस सफलता के लिए मधुशाला की लोकप्रियता के कारण हैं—उर्दू मुशायरों द्वारा सर्जित वातावरण तथा बच्चनजी का मिश्री से घुला स्वर। अच्छा हुआ कि बच्चनजी स्वयं आगे इस नशे से दूर हो गए, क्योंकि मुझे बच्चनजी सदैव अपने इस रूप में 'प्रभाव' ही लगे 'स्वभाव' नहीं।

इस काव्य में विद्रोह के स्वर भी मुखर हुए। यह विद्रोह उस छाया-वादी 'व्यक्ति' के प्रति था, जो इतना अधिक आध्यात्मिक था कि साधारण मानव के राग-विराग की सीमा का अतिक्रमण करता था। इन कवियों ने उस आध्यात्मिकता अथवा दार्शनिकता के बोझ को उतार फेंका। अध्यात्म, धर्म, दर्शन आदि सब मार्ग बहकाने वाले इन्हें प्रतीत हुए। बुद्धि का भी समूल उच्छेदन इन कवियों का लक्ष्य बन गया। ...

जहाँ गहन मानवीय रागात्मक भावप्रधान अनुभूति

वांछनीय गम्भीरता और उदात्तता का ह्रास भी

व्यक्तिपरक फलत: संकीर्ण होता गया। व्यक्ति

आध्यात्मिक आधार के अभाव के कारण इस

निराशा और कुण्ठा उत्पन्न हुई। सब ओर

बड़ा हीन और असहाय-सा हो गया, उसमें ...

गया। अहंकारोक्तियों और अपनी दीवानगी की दुहाई से इन्होंने टोसता प्रमाणित करने की चेष्टा अवश्य की है—पर अन्तर में ये सब आस्थाहीन और निराधार हैं। सामाजिक व्यक्ति की पूर्णता सदैव धर्म, दर्शन अथवा अन्य किसी मत के बाहरी सम्बल का सहारा लेती है, जिससे ये विद्रोह की आँधी में खो चुके थे।

यह काव्य सामाजिक व्यक्ति पर केन्द्रित हो गया, फलत आसानी से इस युग के कवि सामयिक, राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर भी कविताएँ लिखते रहे। ये कविताएँ प्रमुखत राष्ट्रीय और अशत प्रगतिवादी रही। काव्य की दृष्टि से ये साधारण कोटि की कविताएँ हैं।

छद में कोई नवीनता नहीं आई। व्यक्तिपरक भाव-प्राधान्य के कारण गीतों की रचना अधिक हुई। प्रबन्ध-काव्य तो नगण्य ही रहे। इस प्रकार की आस्थाहीन मन स्थिति से प्रबन्ध-काव्य की आशा करना हवा में महल बनाना ही है। गीतों में गेयता और अधिक आ गई थी। हाँ, भाषा में अवश्य ताजगी और नवीनता के दर्शन हुए। छायावादी भाषा अमरकोशीय तत्सम-प्रधान थी, जबकि इन कवियों ने सीधी-सादी बोलचाल की चलती भाषा में काव्य लिखा। इस भाषा में अभूतपूर्व व्यजना और मार्मिकता का समावेश हो सका है। यह इन कवियों की प्रशसनीय सफलता है।

उधर (समाज, राष्ट्र आदि की समस्याएँ) हो सकते हैं। प्रारम्भिक बीसे
कविताओ मे कवि मानवता की विनाशात्मक प्रक्रिया से आहत दिखाई दे
है। चारो ओर उसे 'युद्ध की ज्वाला' का ताप महसूस हो रहा है। पृथ
'रक्तस्नान' करेगी, यह वह अनुभव कर रहा है। भय और आक्रोश का ऐस
वातावरण है कि इस 'व्याकुल ससार' में प्रेमी 'चुम्बन-प्यार' भी नही
सकता। मानव के स्वाभाविक प्रवृत्तिगत कार्य भी अवरुद्ध-से हो गए हैं
जीवन की संजीवनी प्रेम, स्नेह रूपा प्राणधारा जैसे भावी विनाश के भयाता
से सूख गई है। 'मनुष्य की निर्ममता', इसकी हिंसता, विप्लव, करुण पुकार
आदि से कवि सतप्त है।

शेष सब कविताएँ भारत-विषयक हैं। इन कविताओ मे भारत की
प्राचीन सस्कृति और गौरव, हिन्दुस्तान की जाति और धर्मगत समस्याएँ,
विभाजन की पीडा और स्वदेश-भक्ति की आवश्यकता आदि का चित्रण हुआ
है। देश के नेताओ पर भी प्रशस्तिपरक अथवा उद्बोधनपरक पाँच-सात
कविताएँ हैं। 'देश के युवको से' कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सीधी बातें हैं। 'नये वर्ष'
पर आजादी की पहली, दूसरी वर्षगाँठ, स्वतत्रता-दिवस, ब्रह्मदेश की स्वत-
न्त्रता पर भी कवि ने मुक्तहस्त शब्द-वितरण किया है। अमित, अजित, राजीव,
और अस्मिता के जन्मदिन भी एक-एक कविता उत्पन्न कर सके। बच्चनजी
सम्भवत: अब नियमित रूप से Office-work के समान ही काव्य-सर्जन
करते हैं।

काव्यात्मक दृष्टि से यह सग्रह काव्य-धारा के इधर-उधर ही है। समझ
मे नही आता कि इतना पुराना कवि भी क्यो स्वयं को वस्तुपरक (Obje-
ctive) दृष्टिकोण से नही आँक सकता। क्या अब भी बच्चनजी मे छपास
की भूख है? बच्चनजी एक ही नही, यह छपास का रोग हिन्दी के अधिकांश
कवियों मे लक्षित हुआ है। एक बार प्रसिद्धि मिले कि बस 'का'-'या' करने
की उम्र से लेकर बाबा हो जाने तक का जितना कूड़ा-करकट है, वह छपवा
देते हैं। उनके सौभाग्य से और हिन्दी-साहित्य के दुर्भाग्य से प्रकाशक भी
प्राय. ऐसे निरक्षर भट्टाचार्य अथवा बाजारू दृष्टि के हैं कि 'बड़ा नाम'

होती है। उस प्रतिभा के निर्माण में अनेक साहित्यिक और सामाजिक कारण होते हैं। बुढ़ापे में उस प्रतिभा को तोड़-मरोड़ करने की चेष्टा में प्रतिभा बिखर जाती है, शेष शब्द मात्र रहते हैं। सम्भव है कि पुरानी पीढ़ी के कवि इस तथ्य को समझें। इन सौ कविताओं में अन्तिम तीसेक सच्ची कविताएँ हैं, जो बरबस हृदय को रस-प्लावित करती हैं, क्योंकि इनमें कृत्रिमता नहीं, सहज स्वाभाविकता है—कवि के व्यक्तित्व के अनुरूप।

'बुद्ध और नाचघर' में 28 लम्बी मुक्त-छन्दीय कविताएँ हैं, अधिकांशतः विचार-प्रधान। 'पपीहा और चील कौए', 'चाँद और बिजली की रोशनी', 'चील विहगिनी' और 'रात का अपराध' संग्रह की सर्वश्रेष्ठ रचनाएँ हैं। इनके मुक्तछन्दों में सहज प्रवाह है और अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक है। 'पपीहा और चील कौए' मानव के दो पक्षों को व्यंजित करते हैं, आदर्श महत्त्वाकांक्षा अथवा स्वर्गिक प्रेम और यथार्थ स्वार्थोन्मुख वासना। 'चाँद' वाली कविता में बिजली वैज्ञानिक उन्नति का प्रतीक है, जिसने मनुष्य के अहंकार, वासना और स्वार्थ को इतना पुष्ट किया कि स्वाभाविक प्रवृत्तियों की भी वह उपेक्षा करने लगा। ये दोनों ही सुन्दर और सबल प्रतीक हैं। एक उल्लेख्य कविता और है—'बुद्ध और नाचघर'। इस कविता में सांस्कृतिक पतन तथा सभ्य समाज में व्याप्त कामवासना का सजीव वर्णन हुआ है। पर इसमें कसाव कम है। कहीं-कहीं पर यह उपदेशात्मक (Didactic) हो गई है। तीन-चार कविताएँ अपने दोस्तों से सम्बन्ध रखती हैं। वे पढ़ेंगे तो उन्हें लाभ होगा। अपनी बात कहने में इन दिनों बच्चन अधिक रस लेने लगे हैं—काव्य रस के मूल्य पर भी। ईसपोल्टिक, तुम्हारी नजरों में वे—बचकाने प्रयोग हैं। इनके व्यंग्य में सस्तापन अधिक है, सूक्ष्म मार्मिकता कम। 'आह्वान', 'सृष्टि', 'पूजा', 'वरदान', 'हिन्दू-मुसल्मान' आदि रचनाएँ भी साधारण हैं। 'तप' कविता में बच्चों के लिए पर्याप्त मनोरंजन की सामग्री है—

जलती बस
तपती बस

कविताएँ किसी प्रबन्ध-काव्य की कल्पना के खण्ड हैं। पर इन खण्डित रूपों में न 'प्रबन्ध' ही है और न काव्य' ही। 'प्रणाग्नि' काव्य तभी बन सकती है, जबकि नायक से गम्भीर हार्दिक सम्बन्ध हो, मानसिक अविभाज्यता हो। केवल बौद्धिक सहानुभूति के आधार पर की गई रचना समय और शब्दों का अपव्यय मात्र होती है, क्योंकि उसमें अनुभूति की गहनता नहीं आ सकती। बच्चनजी की 'आरती' मन्दिर के पुजारी की 'आरती' ही है। पुजारी के लिए 'आरती' एक दैनिक कार्य (Routine work) मात्र है। मीरा की आरती की सहज भाव-प्रवणता उसमें कहाँ?

आगे दसेक कविताओं में अपने बाप-दादों, भाई-भतीजों, प्रेयसी-पत्नी, मित्र और इलाहाबाद नगर पर कलम चलाई है, उनके प्रति कवि ने कृतज्ञता प्रकट की है। यह व्यक्तिगत मामला है, किसी को क्या आपत्ति हो सकती है? पर अच्छा होता कि कवि इन्हें सँजोकर रखता, कम-से-कम पाठकों के व्यस्त जीवन का खयाल करके ही, अथवा वह अपनी आत्म-कथा लिखता, चाहे छन्दबद्ध ही। प्राचीन काल में ज्योतिष और आयुर्वेद भी छन्दबद्ध भाषा में लिखे जाते थे। इन कविताओं को पढ़कर एक ही मानसिक प्रतिक्रिया हुई कि यह व्यक्तिगत स्मृतियों का विवरण है। सफल काव्य सार्वजनीन ही नहीं, विश्वजनीन भी होता है, समष्टि रूप। स्पष्ट है कि कवि 'व्यक्ति' की सीमा को सार्वजनिक नहीं बना सका है।

शेष कविताएँ निश्चित रूप से कविताएँ हैं। इन कविताओं में वही पुराना प्रणयी, समाज-विद्रोही, रोमैंटिक बच्चन उलझ रहा है। यहाँ अनुभूति की गहनता भी है और कथन की सचाई भी।

अंग से मेरे लगा तू अंग ऐसे,
आज तू ही बोल मेरे भी गले से।

वही प्राचीन व्याकुलता, टीस, प्रणय-लालसा और विद्रोह जिसने बच्चन को बच्चन बनाया। बच्चन सदैव ऐसा क्यों नहीं लिखते? प्रगतिवादी अथवा प्रयोगवादी आलोचकों के डर से अथवा समय के साथ कदम मिलाने की प्रवृत्ति के मोह के कारण। प्रत्येक कवि के पास एक विशेष

नहीं, जो लिखा उन सबको छपाना बुरा है। संख्या का मोह बच्चन को है, उन्होंने स्वय स्वीकार भी किया है। पर बच्चन जैसे प्रौढ कवि से कुछ सयम की आशा की जा सकती थी। अपने कृतित्व को स्वय तौलकर छपवाते तो पाँच सग्रहो के स्थान पर मुश्किल से एक सग्रह बन पाता—गुणयुक्त। आगे बच्चनजी प्रयोगवाद अथवा नयी कविता से कदम मिलाने की कोशिश न करें और सख्या के स्थान पर गुण पर विशेष दृष्टि रखें तो उनसे सार्थक आशा की जा सकती है। अब सभवत यह जमाना नही है कि गले के आधार पर ही कवित्व कायम रह सके।

अंचल—अचल प्रारम्भ से ही यौवन और प्रणय के कवि रहे हैं। यद्यपि यदाकदा भूले-भटके इन्होने क्रान्ति, विद्रोह और सर्वहारा की बातें की हैं, पर यह स्वर अप्रमुख ही है। कुछ लोगों ने अचल को विद्रोही कवि कहा तो कुछ ने क्षयी रोमास का कवि। अचल शुद्ध प्रणय-कवि हैं। उनके काव्य का केन्द्र मानवी नारी है, युवा, प्रेयसी रूप मे। इस नारी के गीत इस खेमे के सब कवियो ने ही गाए हैं, पर अचल तो उसमे आकण्ठ डूब गए हैं।

अचल का 'वर्षान्त के बादल' सग्रह भी उसी नारी-प्रणय मे भीगा-डूबा है। दो-तीन प्रकृति-सबधी सुन्दर रचनाएँ हैं, सजीव चित्रो से युक्त। शैली 'पुरानी' ही है, इसलिए अधिक मार्मिक भी। यह अच्छा लक्षण है कि अचल को नयेपन का बुखार नही चढ़ा है। अपनी प्रतिभा के अनुरूप काव्य लिख रहे हैं। बाकी सब कविताओ मे मिलन, विरह, प्रतीक्षा, स्वप्न, जलन, पुकार, मान आदि के आँसू-भीगे स्वर हैं। इनकी अभिव्यक्ति के विषय मे कोई शिकायत नही, क्योकि वह परम्परित सबल प्राणवत्ता से अनुप्राणित हैं।

सक्षेप मे कहूँ तो अचल अपने इस रूप मे अब भी जिन्दादिल कवि हैं। ससार के उद्धार, थोथी मानवता की पुकार, सर्वहारा के प्रति बौद्धिक सहानुभूति और नयी कविता के बेबुनियादी नयेपन से यदि बचे रह सकें, तो उनके काव्य की जिन्दादिली अक्षुण रहेगी। इस खेमे के कवियो मे सबसे अधिक काव्यात्मक और सरल कवि दो ही थे—अचल और नरेन्द्र। नरेन्द्र के काव्य

लाल-अंगरखा तन धरती चल,
डग एक मंद धरती चल,
डग एक ध्यान धरती चल
सजनी चल
गोरी चल

'गाड़ी चल,' 'घोड़ी चल' आदि लोकगीतों से मिलाइये।

'चार खेमे चौंसठ खूँटे' संग्रह में 64 कविताएँ हैं—सभी प्रकार की। पंद्रह बीस लोकधुनों पर आधारित हैं। लोक-काव्य आजकल कवियों का प्रिय आकर्षण हो गया है। पर लोक-काव्य पर आधारित रचना स्वयं कवि के मन को ही पकड़ रखती है, उसमें काव्योचित गांभीर्य नहीं आ सकता। क्योंकि शिष्ट (नागरी) कवि के मानस और लोक-कवि के मानस में कुछ अन्तर है, जो अनुभूति के उपकरणों को भी अलग-अलग विभक्त कर देता है। शिष्ट कवि अधिक-से-अधिक लोक-कवियों की नकल कर सकता है; वह भी लय और धुन की। इस नकल में खेमों का कवि काफी सफल हुआ है। महद्‌काव्य मनवाने की तो कवि की स्वयं की इच्छा भी शायद न हो।

इसके अतिरिक्त शेष सब विचार-प्रधान कविताएँ हैं। लययुक्त मुक्त-छन्द का सुन्दर प्रयोग देखकर प्रतीत होता है कि नये कवि बच्चनजी से इस क्षेत्र में काफी सीख सकते हैं। अधिकांश कविताएँ भी मार्मिक हैं—विचार-प्रधान कविता को मार्मिक बनाना कवि-कर्म की कसौटी है, क्योंकि विचार को अनुभूति में डुबाकर समन्वित करने से वह काव्योचित बनता है। 'सत्य की हत्या', 'विषफल', 'दैत्य की देन,' 'अनजिए विश्वास' आदि कई सुन्दर विचारात्मक कविताएँ हैं। इन कविताओं में प्रायः कवि मानव की चिरन्तन द्वंद्व-भावी समस्याओं से चिंतित रहा है। विज्ञान की उन्नति से जो अनुदारता और खोखलापन आ गया है, उसकी पीडाजनक प्रतीति भी कवि को हुई है। फिर भी कवि आस्थावान और आशावान है। 'प्रभु को पुकारो' की आवाज लगाता है और 'चल बजारे' का गीत गाता है।

बच्चन ने पिछले दशक में बहुत-कुछ लिखा है। लिखना उतना बुरा

दिनकर—दिनकर ने पिछले दशक में खूब लिखा-छपवाया है। दो महाकाव्य और कुछ कविता-संग्रह।

'रश्मिरथी' महाकाव्यकार की प्रबन्ध-कविता है। 'कुरुक्षेत्र' में और उसके बाद दिनकर बुद्धिवादी बनते गए। 'रश्मिरथी' भी उसी बुद्धिवाद का प्रतिफल है, जिसमें काव्य यदाकदा और चिन्तन सर्वदा दिखाई देता है। अपने समाजवादी और मानवतावादी दृष्टिकोण का आरोपण 'कुरुक्षेत्र' के समान यहाँ भी कवि ने खुलकर किया है। मूलतः कुलीन पर लोकश्रुत रूप में 'दासीपुत्र कर्ण' इस काव्य के नायक हैं। कर्ण प्रतीक है, जाति-विभेद और आभिजात्य-वर्ग के छल-कपटमय अत्याचार तथा थोथी नैतिकता की गर्हित अमानुषिकता से त्रस्त-पीडित व्यक्ति का। 'कर्ण' के व्यक्तित्व में कवि ने जितने भी श्रेय-प्रेय गुण हो सकते हैं, सब भर डाले। महाभारतकार भी कर्ण के प्रति सहानुभूतिशील रहे हैं। पर दिनकर ने तो उसे आधुनिक समतावादी, धर्मनिरपेक्ष, जातिहीन मानवता का प्रतीक बना दिया है। अन्य पात्रों पर कवि ने अधिक ध्यान नहीं दिया है। अर्जुन अत्यधिक अहंकारी है और कृष्ण कुशल राजनीतिज्ञ। कुन्ती पर अवश्य ध्यान दिया है—पर उसे जलील करने के लिए। 'रश्मिरथी' की कुन्ती जघन्य, कुण्ठित और कठोर है। आश्चर्य है कि कुन्ती के आधुनिकीकरण के बिना कर्ण को कवि आधुनिक मानवतावादी नेता कैसे बना सके। कुन्ती के चरित्र को उस सांस्कृतिक वातावरण से विलग कर उसकी छीछालेदर करना कुन्ती ही नहीं, महाभारतकार के प्रति भी अन्याय है।

किसी भी ऐतिहासिक कथानक के साथ मनमानी करने का यही दुष्परिणाम होता है। तत्कालीन सामाजिक और सांस्कृतिक वातावरण से अलग करते ही ऐतिहासिक पात्र निष्प्राण हो जाते हैं। आधुनिकता के प्राण फूँकने से वे कृत्रिम और यंत्र-चालित-से प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि कर्ण जो कुछ कहता है, वह लाउड-स्पीकर की आवाज-सा लगता है। कर्ण के मुख से कवि स्वयं जो बोल रहा है! वस्तुतः ऐतिहासिक कथासूत्र अथवा पात्र को लेकर तमाम आधुनिकता का आरोप करना अत्यधिक अनुचित

को गांधी के व्यक्तित्व ने खा डाला। अब केवल अंचल बचे हैं। ईमानदारी और मार्मिकता से रोमांस का चित्रण हेय काव्य नहीं है। काव्य में विषयगत श्रेष्ठता आवश्यक नहीं, विषय की सहज, गंभीर अनुभूति आवश्यक है।

: ३ :

छायावाद की सर्वांग प्रतिक्रिया प्रगतिवादी काव्य है। छायावादी 'व्यक्ति' सामान्य अवश्य था, पर वह आदर्श आध्यात्मिक रूप मे ही सामान्य था। इसलिए उसमे जनजीवन के आर्थिक और सामाजिक पहलू की उपेक्षा थी। जीवन के कटु यथार्थ को पूँजीवाद का परिणाम मानकर प्रगतिवाद हिन्दी-साहित्य में आया, सब-कुछ को तोड़-फोड़कर वर्गहीन समाज की स्थापना का संकल्प लेकर। इसलिए इस काव्य मे क्रांति, विनाश, घृणा, द्वेष, आक्रोश ही अधिक पनपा। सोवियत रूस की प्रेरणावश लाल झंडा, लाल सुबह और लाल सेना भी अदबद कर कविताओ के माथे पर चमचमाती रही। प्रगतिवादी व्यक्ति इस रूप मे छायावादी व्यक्ति का सर्वांग विलोम है। यहाँ व्यक्ति समाज का एक अग—पुर्जा—मात्र रह गया। उसकी व्यक्ति-सत्ता सम्पूर्णत लुप्त हो गई, मार्क्स-दर्शन के आधार पर काव्य केवल साधन (Tool) मात्र बन गया। इस स्थिति मे किसी भी महान् काव्य-कृति की प्राप्ति की आशा नही की जा सकती। धीरे-धीरे प्रगतिवादी कवि भी मार्क्स के दामन को छोड़ सस्कृति के आश्रय मे जाने लगे, कुछ 'नये' हो गए और कुछ 'अरविन्द' अथवा विवेकानन्द-पन्थी।

छायावाद के साथ-साथ एक दूसरी धारा भी चल रही थी—राष्ट्रीय धारा। इस धारा का छायावाद से विरोध नही था। वस्तुतः वे एक-दूसरे की पूरक थी। इसमें मैथिलीशरण, प्रसाद, निराला आदि को भी अशतः शामिल किया जा सकता है। पर प्रमुख कवि इसके 'नवीन' और माखनलाल चतुर्वेदी ही थे। चतुर्वेदी के काव्य का एक पहलू पूर्णत रोमेंटिक भी है। पर उनकी प्रसिद्धि सभवतः उनके राजनीतिक कार्य के कारण राष्ट्रीयता के गायक रूप मे ही अधिक हुई।

[illegible] 'नीलकुसुम' में है। अछूता इसलिए नहीं क्योंकि नये कवियों की थोथी कलाप्रियता, कुण्ठा, अहंकार और [illegible] का रस इसमें नहीं है। नीलकुसुम वास्तव में परम्परा का ही विकास है—रसवन्ती की परम्परा का। समाजवाद तो दिनकर के काव्य में हमेशा आरोपित रहा है।

'नीलकुसुम' का स्वर वही पुराना है—भारतीय संस्कृति। हिमालय का सन्देश, राष्ट्रदेवता का विसर्जन, अर्द्धनारीश्वर आदि में कवि सांस्कृतिक धारा को पुनरुज्जीवित करना चाहता है। विज्ञानमय भौतिक संस्कृति के स्थान पर हृदयपक्ष को प्रबल बनाने की सलाह देता है। 'स्वर्ग का दीपक', 'कांटों का गीत', 'नीड़ का हाहाकार' 'भूदान', 'नमक़' आदि कविताएँ सामाजिक धरातल पर लिखी गई हैं।

कवि की शैली संकेतात्मक और प्रतीकात्मक है। इस वर्ष के प्रकाशित संग्रहों में 'नीलकुसुम' सर्वश्रेष्ठ है। दिनकर के—कवि के जिन्दा होने के लक्षण इसमें विद्यमान हैं।

'उर्वशी' दिनकर की बहुचर्चित कृति है। चर्चा प्रशंसापरक ही अधिक हुई, निन्दापरक बहुत कम और निष्पक्ष तथ्यपरक नाम मात्र को ही।

उर्वशी और पुरुरवा का आख्यान बहुत पुराना है। दिनकर ने उस पुराने कथानक में अत्यधिक नयापन लाने की चेष्टा की है। इतना अधिक नयापन कि कथानक प्रायश: नष्ट हो गया और वाणी अर्थात् संवाद सर्वाधिक शक्तिसम्पन्न। इसका फल यह हुआ कि उर्वशी में लम्बे-लम्बे भाषण अधिक हैं, जो विचार, दर्शन और तर्क नामी चादर ओढ़े है। जवानी संघर्ष है, कोई घटना-दुर्घटना नहीं। इस विषय में शिकायत करें तो दिनकरजी ध्यान नहीं देंगे। वे कह सकते हैं कि मेरा उद्देश्य परम्परागत महाकाव्य लिखना नहीं था, मैं तो मानव-जीवन की शाश्वत कामवृत्ति को प्रतीकात्मक ढंग से प्रतिष्ठित करना चाहता था, जो 'सृष्टि-विकास' का 'भावना-पक्ष' है। दिनकर 'उर्वशी' में 'पुरुषार्थ के कामपक्ष का माहात्म्य' बताना चाहते हैं, तो 'उर्वशी' का विषय काम है।

काम के कई रूप हो सकते हैं। भारतीय दर्शन में सृष्टि के वि का ?
कारण काम माना गया है। काम का यह अर्थ अत्यन्त व्यापक है। यह काम
मानवीय शारीरिक वासना—सुख का पर्याय नही है। कही इस काम को
ब्रह्म की इच्छा कहा गया है तो कही प्रकृति पुरुष का निरसग सम्पर्क मात्र।
प्राचीन ग्रन्थो मे चाहे यह किसी भी रूप में गृहीत हुआ हो, इतना निश्चित
रूप से कहा जा सकता है कि इस काम की धारणा समष्टिनिष्ठ ही है,
व्यक्तिनिष्ठ नही है, क्योकि सृष्टि में मनुष्येत्तर प्राणी और पचभूतात्मक
संसार भी समाहित है। दूसरी ध्यातव्य बात यह भी है कि यह 'काम' साधन
मात्र है, प्रबुद्धचेतन सोद्देश्यता इसमे नही है। यह क्रिया है, सृष्टि का विकास
उसका फल (प्रतिक्रिया)। भोक्ता के अभाव में इस क्रिया से सांसारिक अर्थ
में सुख-प्राप्ति नही होती। तर्क के लिए ब्रह्म को भोक्ता माना जाए, तो
प्रतितर्क होगा कि ब्रह्म तो चिदानन्द रूप है। सासारिक सुख—जिन्हे दार्श-
निकों ने जड की सज्ञा दी है—क्या उसे प्रभावित कर सकेंगे? कर भी
सकें तो भी यह काम समष्टिरूप ही रहेगा; क्योकि सृष्टि के विकास से पहले
ब्रह्म पूर्णत समष्टिरूप ही होगा। काम का दूसरा रूप सामान्य प्राणी-समाज
में द्रष्टव्य है। यहाँ काम शारीरिक आवश्यकता—भूख—बन जाता है और
इस क्रिया से मन की परितृप्ति और सुख प्राप्त होने लगता है। यह काम
व्यष्टिनिष्ठ और सोद्देश्य (Purposive) है, क्योकि प्राणियो के युग्म की
भावना से वह युग्म ही व्यक्तिश. प्रभावित होता है तथा मन की शारीरिक
परितृप्ति का उद्देश्य भी उसमे समाविष्ट है। यहाँ यह काम विभिन्न शारी-
रिक अंगो मे केन्द्रीभूत हो गया है। इसमे ऐन्द्रिक्ता आ जाती है। पर यह
व्यष्टिनिष्ठता और सोद्देश्यता प्रवृत्तिगत (Instinctual) और स्थूल
(Crude) ही होती है। अर्थात् कथित युग्म के सदस्यों में व्यक्तित्व की

है, तभी वह मानवीय काम अर्थात् प्रेम का रूप धारण कर लेती है। वासना का व्यक्तित्व बन्धन ही प्रेम है और इस बन्धन मे चेतन (Rational) मानस की संस्कारपुष्ट सूक्ष्मता भी आ जाती है। रूप, लावण्य आदि के सौन्दर्य-सम्बद्ध मूल्य उस 'सूक्ष्मता' के ही विभिन्न पक्ष हैं। यहाँ स्थूल ऐन्द्रिक समागम ही सुखदायक नहीं होता, व्यक्ति की उपस्थिति और दरस-परस भी आनन्ददायी होते हैं। यहाँ काम पूर्णत व्यक्तिनिष्ठ और सोद्देश्य हो जाता है।

इस काम अथवा प्रेम को द्विपक्षी मानना चाहिए—पुरुषपक्षीय और नारीपक्षीय। शारीरिक रचना, परम्परागत संस्कार और स्वभावगत विशिष्टताओ के कारण पुरुष बाह्यजीव—स्थूल समाज—के प्रति अधिक उत्तरदायी है, जबकि नारी का कार्य-क्षेत्र प्राय घर ही रहता है। नारी स्वभावत गार्हस्थिक अधिक होती है, जबकि पुरुष सामाजिक अधिक। फलत पुरुष के अनेक सामाजिक कर्त्तव्यो मे प्रेम एक अग मात्र है, पर नारी के लिए प्रेम अग और अगी दोनों हैं। निष्कर्षत नारी प्रेम को अधिक गम्भीरता से ग्रहण करती है, जबकि पुरुष उसे आनुपातिक रूप मे। पुरुष मे कामेतर और कामोत्तर कामनाएँ अधिक होती हैं, जिससे उसका व्यक्तित्व प्रम की सीमा का अतिक्रम करता रहता है। नारी प्रमुखत प्रेमिका रहती है और अतत. माता बन जाती है। 'उर्वशी' का काम निश्चित रूप से तीसरी श्रेणी का अर्थात् मानवीय काम ही है।[1] काव्य मे प्रमुख पुरुष एक है पुरुरवा (सुकन्या के पति का केवल उल्लेख मात्र हुआ है) और नारी तीन—उर्वशी औशीनरी और सुकन्या। इन सब पात्रो के विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण इनका प्रेम भी विशिष्ट है। 'उर्वशी' का काम-पक्ष चित्रण अत्यधिक असावधानी से हुआ है। 'उर्वशी' देवताओ के अतीन्द्रिय चेतनापरक काम अथवा प्रेम मे असन्तुष्ट है। वह ऐन्द्रिक भोग मे स्व का विलय कर देना चाहती है, शुद्ध स्थूल शारीरिक काम मे। उर्वशी का यह रूप नारी जाति का प्रतिनिधि नहीं, अपवाद (Exception) है। उसमे जडकामैषणा चित्रित हुई, जो

1. दिनकर लिखित 'उर्वशी' की भूमिका की उपेक्षा कर यह बात मैं कर रहा हूँ।

अबौद्धिक प्राणीवर्ग मे प्राप्त होती है, अर्थात् उर्वशी का काम व्यष्टिनिष्ठ तो अवश्य है, पर व्यक्तिनिष्ठ नही। इन्द्रिय-सुख-बुभुक्षित उर्वशी पुरूरवा के अभाव मे किसी अन्य मनुष्य से भी परितृप्ति प्राप्त कर सकती है, क्योकि उर्वशी के 'भाषणों' से ऐन्द्रिक काम-योग का ही प्रतिपादन होता है। उर्वशी का सम्बन्ध पुरुष पुरूरवा से होना चाहिए, व्यक्ति पुरूरवा से नही। पर दिनकरजी ने उर्वशी के विरह के उत्ताप का भी चित्रण किया है। विरह तो व्यक्ति से होता है, व्यष्टि (पुरुष जाति) से नही। विरहिन उर्वशी ऐन्द्रिक भोग की प्रतीक नहीं हो सकती, वह सासारिक प्रेमिका अवश्य बन सकती है। ऐसी स्थिति मे औशीनरी और उर्वशी मे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता। इस प्रकार उर्वशी का व्यक्तित्व न सामान्य सांसारिक नारी-सम्मत है और न ऐन्द्रिक भोग-वासनानुगामी। इसका फल यह हुआ है कि 'उर्वशी' मे न तो धरती की स्थूलता आ पाई है और न प्रतीक-काव्य की सूक्ष्म गम्भीर अर्थ-सगति ही। वह मात्र वायु है, जो शृगार-वंशी से चुम्बन, परिरम्भण, आलिंगन आदि के स्वर-ही-स्वर निकालती रहती है। सक्षेप मे कहें तो 'उर्वशी' न तो सफल प्रतीक ही बन पाई है और न सफल मानवी ही।

पुरूरवा का पुरुषपक्षीय द्वन्द्वात्मक काम है। पुरूरवा वासनात्मक शारीरिक काम का अतिक्रम कर आत्मिक प्रेम तक पहुँचना चाहता है। इतना ही नही, वह शरीर और ससार के उस पार की चैतन्य स्थिति को—दिव्यत्व को—प्राप्त करने के लिए लालायित और आकुल प्रतीत होता है। पूरे काव्य मे त्रस्त, व्याकुल और असन्तुष्ट व्यक्ति के रूप मे वह चित्रित हुआ है। उसमे दिव्यत्व की ललक इतनी प्रबल है कि वह स्वाभाविक परिस्थिति मे भी स्वाभाविक व्यवहार नही कर सकता। इसीलिए वह मिलन मे प्रकारान्तर से आत्मा की बात करता है—दुखी लगता है और वियोग मे कामान्ध हो उर्वशी के लिए रोता है। इस प्रकार वह न आत्मिक प्रेम (Platonic love) ही प्राप्त करता है और न सामान्य व्यक्तिनिष्ठ सामान्य प्रेम ही। अन्त मे सन्यास धारण करता है। सासारिक प्रेम कार्य

या सन्यास मे समाधान प्राचीन भारतीय परम्परा है। सक्षेप मे पुरुरवा भी अपवाद मात्र ही है, वैचारिक प्राणी मात्र।

औशीनरी और सुकन्या का सामान्य आदर्श प्रेम है। औशीनरी वियोगिन और अतृप्त न होती, तो सुकन्या के समान बात कर सकती थी। यह अकुण्ठित गार्हस्थिक प्रेम है। परम्परा से ही भारत मे पति परमेश्वर माना जाता है। अत आत्म-समर्पण इसका प्रमुख लक्षण है, जो दोनो मे प्राप्य है। औशीनरी की विरहजन्य पीडा बहुत मार्मिक रूप मे चित्रित हुई है।

दिनकर कौन-से पक्ष को स्वीकार करते है, यह 'उर्वशी' मे कही स्पष्ट नही होता है। वैचारिक और सैद्धान्तिक दृष्टि से यह दिनकर की बहुत बडी असफलता है। उन्होने प्रश्न उठाया—उत्तर भी तो होना चाहिए ? उत्तर की महत्ता है, प्रश्नो की नही। प्रश्न तो सब उठा सकते हैं, उत्तर सब नही जुटा पाते। 'उर्वशी' के पात्रो के उत्तर अलग-अलग आशिक ही नहीं परस्पर-विरोधी भी है। दिनकरजी गद्य मे ही उत्तर देने की चेष्टा करें, तो भी पाठक को कुछ साहस प्राप्त होगा। 'उर्वशी' की भूमिका मे कोई 'उत्तर' नही है। हाँ, प्रकृति पुरुष, काम, प्लेटो आदि का तात्विक रूप से असम्बद्ध उल्लेख अवश्य वहाँ पर हुआ है। कामायनी 'इडा और मनु का आख्यान' भूल से मान लिया गया है, तो 'उर्वशी' की स्थिति यह है कि प्रश्न सामान्य, बहुत बडे, पर उत्तर असामान्य, बहुत छोटे।

कलापक्ष की दृष्टि से भी 'उर्वशी' ऐसा महत्त्वपूर्ण काव्य नही है कि इसी कारण इसे हिन्दी का अभूतपूर्व महाकाव्य माना जाए। कवि ने इसे ऑपेरा (Opera) बनाने की चेष्टा की है, किन्तु यह केवल नाट्यात्मक कविता (Dramatic Poem) बनकर रह गई है। सूत्रधार और नटी की योजना अस्वाभाविक और कृत्रिम प्रतीत होती है। प्राचीन नाटकों मे उनकी विशिष्ट उपयोगिता हुआ करती थी। उन युगो मे मुद्रण यत्र के अभाव मे ऐतिहासिक और पौराणिक कथाएँ सर्वांगत जनमानस मे प्रचलित नहीं हो सकती थी। इसलिए सामान्य जन-समुदाय को अभिनेय कथा का सक्षिप्त परिचय इस विधि से दे दिया जाता था, जिसमे रसपरिपाक की भूमिका

ऐसा आभास होता है कि कवि ने इस पर अधिक गहराई से विचार नहीं किया है। विचारगत अन्तर्विरोध दिखाने के लिए जितने श्रम और समय की आवश्यकता है, उसके अभाव में 'इत्यलम्'।

भाषा प्रायः प्रवाहयुक्त है। शब्द-योजना की दृष्टि से कवि की सम्पन्नता बढ़ती जा रही है। कहीं-कहीं अप्रचलित अमरकोषीय शब्दों का प्रयोग कवि के स्वाध्याय को प्रकट करता है। फिर भी कुछ स्थलों को छोड़कर भाषा में प्रवाह है। प्रारम्भिक छन्द 'त्रिपदगा' की याद दिलाता है। लम्बे छन्दों के कारण कुछ शैथिल्य अवश्य आ गया है।

अब संक्षेप में 'उर्वशी' के 'युगान्तरकारी' महत्त्व पर भी विचार हो जाए। युगान्तरकारी काव्य से प्रमुखतः दो अपेक्षाएँ होती हैं, (1) वह साहित्य को शैलीगत नई दिशा दे और (2) विघटित काव्य-चेतना के नवीन स्वस्थ मान स्थापित करे। पहली अपेक्षाकृत कम महत्त्ववाली है, दूसरी अधिक महत्त्वशाली। शैली की दृष्टि से 'उर्वशी' ने कोई नई दिशा दी हो, ऐसा नहीं लगता। विषय की दृष्टि से नवीनता अवश्य है, पर यह नवीनता ही है, स्वस्थ नहीं। काम को दिनकर ने सर्वप्रमुख पुरुषार्थ सिद्ध करने की चेष्टा की है, उसको दिव्यत्व देने का आयास किया है। पर वे आदर्श काम का स्वरूप नहीं दे पाए हैं। 'उर्वशी' का प्रारम्भ धावाकुल है और अंत भी धावाकुल। इस तरह 'उर्वशी' में धावा है, समाधान नहीं। समाधान के बिना उर्वशी का सैद्धान्तिक महत्त्व भी अस्वीकार्य होना चाहिए।

एक और दृष्टि से विचार किया जाना चाहिए। काम क्या जीवन का चरम आदर्श (Goal) हो सकता है? न भारतीय परम्परा इसे स्वीकार करती है और न सामान्य जनमानस। काम अपने साधारण स्वरूप में जीवन का अंग मात्र है, आदर्श नहीं। फ्रायड ने भी काम को आदर्श (Goal) सिद्ध नहीं किया है, केवल काम के सर्वाधिक—प्रच्छन्न महत्त्व—को स्थापित किया है। फ्रायड ने काम का वैज्ञानिक परीक्षण (Objective Study) कर जीवन में उसकी स्थिति मात्र बताई। काम (Sex) जीवन का चरमादर्श होना चाहिए, ऐसा नहीं कहा है। चरमादर्श धर्म हो सकता है, काम नहीं, क्योंकि

माखनलाल चतुर्वेदी—इस दशक में चतुर्वेदीजी के दो संग्रह प्रकाशित हुए हैं, 'युगचरण' और 'समर्पण'। दोनों में पुरानी-नई कविताओं का संकलन है। पुरानी कविताओं के चयन में सुरुचि की खोज द्रष्टव्य है।

श्री चतुर्वेदी को हिन्दी का विद्यार्थी राष्ट्रीयता के गायक के रूप में ही जानता है, पर उनका श्रृंगार प्रणय-स्नात रूप अधिक मनोरम और काव्यात्मक है। उनकी यह प्रणयी मुद्रा बच्चन, अंचल आदि कवियों के अधिक गम्भीर होते हुए भी विशिष्ट है। बच्चन, अंचल आदि ने अध्यात्म और बुद्धि का तिरस्कार कर शुद्ध शारीरिक मांसलता पर आश्रित सांसारिक प्रेम को इष्ट माना। सांसारिक प्रेम में असफल होने पर उनमें क्षोभ, फलतः अनास्था का भाव उत्पन्न हुआ। चतुर्वेदीजी में न दैहिक मांसलता है और न क्षोभजन्य अनास्था। बच्चन आदि के विपरीत उनका प्रेम अध्यात्मपरक अधिक है, जो लोककाव्य की पुट के कारण प्राणवान् भक्तिकाव्य-सा प्रतीत होता है।

युगचरण और समर्पण में भी दोनों प्रकार की कविताएँ हैं, राष्ट्रपरक और प्रणयपरक। राष्ट्रपरक रचनाएँ अधिकतर पुरानी हैं, अतः उनमें तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का परोक्ष प्रभाव प्रमुख है। कहीं 'सेनानी' से साहस और धैर्य रखने का अनुग्रह तो कहीं 'सत्याग्रही' को अहिंसा मार्ग पर अटल रहने की सम्मति दी गई है। गरीबों की दीन अवस्था, मानवता, गणतन्त्र और स्वतन्त्रता दिवस, गांधी-नेहरू आदि पर भी मार्मिक रचनाएँ हैं।

प्रणयपरक कविताएँ अधिक सजीव और मार्मिक हैं। कवि का यह रूप गम्भीर अभाव का परिचायक है। उसमें भयकर घुटन, टीस, विवशता और मर्मान्तिक पीडा के दर्शन होते हैं। यत्र-तत्र मिलन की स्मृति के रसकण उसकी करुण पीडा को झकझोरकर और भी असह्य बना देते हैं। फिर भी वह मिलन कितना भव्य रहा होगा :

> सोने के दिन, चाँदी की रात,
> बना दी क्यों तुमने आकर ?
> —'चाँदी की रात'

पर चतुर्वेदीजी का मिलन 'कुन्तलों से गात घेरे' हुए नहीं है, अर्थात् वासनापरक नहीं है, अध्यात्मपरक है :

तुमको खोकर खोते-खोते,
खो डाला आज तुम्हें पाकर।
—'चाँदी की रात'

इस रूप में कवि महादेवी के अधिक समीप है। उनके मिलन में काम की उष्णता नहीं है, इसलिए विरह में भी क्रोध की विनाशकारी ज्वरता का अभाव है। सासारिक आत्मिक प्रेम हो रहा है। आत्मा में क्रोध कहाँ ? विरह के कारण केवल पीड़ा हो सकती है, मिलन की जीवन्त झलक हो सकती है।

काव्यात्मक अभिव्यक्ति की दृष्टि से चतुर्वेदीजी का यह रूप अत्यन्त सबल और बहुत-से कवियों के लिए अनुकरणीय है। लोक-शब्द, लोक-छन्द, लोक-प्रचलित भक्ति-काव्य के पुट ने काव्य को और भी अधिक मार्मिक बना दिया है। इस दृष्टि से 'हूस उठी बाँसुरी' 'उलझी मुझ', 'नजर', 'मुरली कहानी', 'हरे प्याले हरी पाली', 'क्रन्दन' आदि कविताएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। 'क्यों आए हो ?' कविता के कलात्मक कसाव और मर्मात्मक तनाव का जोड़ मिलना पूरे हिन्दी-साहित्य में कठिन है। भाषा प्रवाहयुक्त और सशक्त है।

चतुर्वेदीजी के इन संग्रहों में पुराना अधिक है, नया कम। पुराना बहुत अच्छा है। चतुर्वेदीजी के रोमैंटिक काव्य का पुनर्मूल्यांकन वांछनीय है। सम्भवतः अभिव्यक्ति की दृष्टि से वे बहुत-से तत्कालीन नामी प्रसिद्ध कवियों से भारी पड़ें। इधर पत्र-पत्रिकाओं में उनके सुन्दर मार्मिक लोकधुनाश्रित गीत दिखाई दिए हैं, 'वेणु लो गूँजे धरा' कोई नया संग्रह भी प्रकाश्य है।

उपसंहार—उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित सामान्य निष्कर्ष प्राप्त हैं :

(1) पुरानी पीढ़ी के प्रायः सभी कवियों में दिन-रात लिखते रहने का अजीब उत्साह सा दिखाई देता है। इस कारण काव्य में

विषय का औचित्य आ पाता है और न अभिव्यक्ति की मार्मिकता। प्रसिद्धि, अधिकार और नाम के बल पर वे सब-कुछ छपा डालते हैं। छपास की भूख काव्य-किशोरों में स्वाभाविक है। काव्य-प्रौढ़ों में यदि हो, तो उनकी अस्तगामिता अथवा पतनशीलता की ओर वह संकेत करती है।

(2) प्रायः सब कवि स्वयं को सायास परिवर्तित करने की चेष्टा कर रहे हैं। कुछ नये बनने की फिराक में हैं, तो कुछ युगान्तरकारी। फलतः उनके सर्जन में काव्य कम, विचाराभास और काव्यमुद्रा (Pose) अधिक होती जा रही है।

(3) कथ्य की दृष्टि से प्रायः सब कवि स्वयं का पुनरावर्तन कर रहे हैं।

इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी का निष्पक्ष इतिहासकार उनके प्रारम्भिक रूप से ही अधिक प्रभावित होगा। सख्या का तो उल्लेख मात्र हो सकता है।

जिस प्रकार 'बन्दर' शब्द को ग्रहण करता है—अर्पित करता है, उसी प्रकार विज्ञान का विद्यार्थी नहीं करता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अर्थ के विशिष्ट होने की सम्भावना है।

'गीत' की चर्चा से पहले कविता पर विचार करें। कवि उपस्थित शब्द को एक विशेष प्रकार से (इस विशेष प्रकार के कवि की मानसिक स्थिति, उसका बौद्धिक दृष्टिकोण, संवेदन-शक्ति आदि कई कारण हो सकते हैं) ग्रहण करता है और उसे विशिष्ट रूप में अभिव्यक्त करता है। स्पष्ट है कि वे शब्द इस रूप में पहले नहीं थे। इस प्रकार कवि सर्जक भी है और ग्राहक भी। यही ग्रहण करने का प्रकार काव्य में वाद (Ism) उत्पन्न करता है। हर महान् कवि 'शब्द' सर्जक है, फलतः भाषा का जनक भी।

गीतकार और 'कवि' इस विषय में समान हैं। गीतकार भी विशिष्ट प्रकार से शब्द ग्रहण करता है, गेयता के रस से भावित कर उसे सर्जित करता है। गीतकार का वह विशिष्ट प्रकार क्या है, कैसा है ? इस प्रश्न के सम्यक् उत्तर में गीत का स्वरूप स्पष्ट हो सकेगा। गीत के अनिवार्य उपकारक-हेतु गेयता पर विचार करें। गेयता अथवा राग में एक ही विशिष्ट अत्यन्त सघन भाव तरलायित रहता है। गायक अथवा श्रोता का पूरा अस्तित्व उसी भाव में लय हो जाता है। स्वरात्मक होने से बुद्धि व्यापार के लिए अवकाश नहीं रहता। राग सबल-भाव-स्वरूप है, किन्तु उसकी अभिव्यक्ति स्वरमयी है। अतः वह गायक के व्यक्तित्व से निरपेक्ष भी है। इसके अतिरिक्त उसमें भाव-प्रभाव की सान्द्रता रहती है।

गीत गेय होता है। अतः स्वाभाविक रूप से उसमें सघन भाव-प्रवणता और अनुभूति की सान्द्रता आ जाती है। इस सीमित क्षेत्र में गीत और संगीत में समानता अवश्य है। किन्तु गीतकार की भावप्रवणता तथा अनुभूति की सान्द्रता अभिव्यक्ति के लिए शब्दाश्रित है। फलतः वह इसी विशिष्ट (सान्द्र अनुभूतिपरक अथवा सघन भावात्मक) प्रकार से शब्दों को ग्रहण करता है और सर्जन करता है। यही विशेष प्रकार विशिष्ट अर्थ की उत्पत्ति करता है और साथ-ही-साथ गीत में गीतकार का सूक्ष्म व्यक्तित्व भी रम जाता है।

इसका परिणाम यह होता है कि गीत व्यक्तिगत, भावानुस्यूत भी होता जाता है। शब्द स्वर की तरह व्यक्तित्व-निरपेक्ष नहीं होते। वे समाज और व्यक्ति दोनों के हैं। अतः गीतकार का परिप्रेक्ष्य (Approach) सदैव भावात्मक, व्यक्तिपरक और सांग (Integrated) होता है। भाव की सघनता और सांगता से गीतकार के व्यक्तित्व की अखण्डता और स्वस्थता भी अनुमित की जा सकती है। दूसरी बात—गेयता और सांग-भाव-सघनता के कारण गीत सदैव समाज से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध रहता है। फलतः वह एकाकिता (Isolation) तथा विच्छिन्नता (Alienation) से बच जाता है। इस प्रकार गीत आधारतः ही भावाभिनिविष्ट है।

नवगीत क्या है? लगता है कि नई कविता और नई कहानी के वजन पर इस पद का निर्माण किया गया है। 'नई' शब्द नई कविता में भी अस्पष्ट है, नवगीत में 'नव' तो और भी अस्पष्ट। विचार करें तो स्पष्ट होगा कि नई कविता पुरानी कविता से द्रव्य (Content) और आकृति (Form) दोनों दृष्टियों से भिन्न है। नई कविता के द्रव्य में प्रमुखतः व्यक्तित्व संकट (Personality crisis) का बोलबाला है, वातावरण संकट (Milieu crisis) का नहीं। वातावरण संकट की अनुभूति तो हर समय के कवि को होती है। किन्तु व्यक्तित्व की सांगता (अर्थात् आदर्श, निष्ठा, श्रद्धा आदि) के सहारे वह इस संकट का सामना करता है, टूटता नहीं। परिणामतः समाज-सम्बद्ध रहता है, चाहे वह समाज को बदलना चाहे या विनष्ट कर पुनर्निर्मित। नए कवि में वह व्यक्तित्व की सांगता नहीं रही[1], अतः उसमें खण्डता, विघटन, एकाकिता, विच्छिन्नता, निर्मूल प्रज्ञा (Sense of rootlessness), निरर्थकता आदि विनाशात्मक गुण अधिक प्रबल हो गए। व्यक्तित्व के विघटन के कारण कवि के भावजगत् में तोड़-फोड़ हुई। भाव-सांगता अथवा सघनता आदि तत्त्व खण्ड-खण्ड हो गए। दर्द भी पूरी तरह [illegible]

ही बदल गया। वह आदर्श विधायक (Idealist) के स्थान पर विश्लेषक (Analyst) अधिक हो गया है। स्पष्ट है कि आदर्श भावाश्रित होना है, जबकि विश्लेषण बुद्धि (Intellect) पर आधारित। इसी विघटन के कारण काव्य की आकृति में भी अन्तर आया। साग अनुभूति अपनी प्रकृति के अनुकूल छन्द-लययुक्त होती है, जबकि असांग विज्ञप्ति अछन्द, अलय अथवा खण्ड-छन्द, खण्डलय पूर्ण। स्पष्ट है कि नई कविता का परिप्रेक्ष्य भिन्न है।

नवगीत और नई कविता को समान समझने की गलती हिन्दी मे की जा रही है। इसमें नए गीतकारो का ही हाथ अधिक रहा है। नए गीतकार प्रयत्न कर रहे हैं कि हमारे गीत नई कविता से कम नही हैं। यह प्रयत्न ही बतला रहा है कि वे नई कविता को अपना आदर्श मानते हैं। सम्भवत यह प्रयत्न हीनग्रंथि का परिणाम है। यह निश्चित रूप से जान लेना चाहिए कि नवगीत नई कविता नहीं हो सकता। गीत में अनिवार्य साग और पूर्ण परिप्रेक्ष्य नए कवियों के पास नही है। यदि नए गीतकार नई कविता के अपरिचित विषयो को गीत में उतारने का असफल यत्न करेंगे तो गीत नही रहेगा, शेष तुक-बढना रहेगी। ऐसी स्थिति मे गीत केवल आकृति (Form) मात्र रह जाएगा। दूसरी बात, गीत को गीतकार और श्रोताओ से अलग नहीं किया जा सकता, वे विशिष्ट रूप से एक-दूसरे से बन्धित हैं, जबकि नई कविता इस विशिष्ट बन्धन से प्रायश मुक्त है। अत नवगीत नई कविता ही नही हो सकता, उसका एक अग होना भी उसके लिए कठिन है। नवगीत को नई कविता होना भी नही चाहिए, नवगीत को नई कविता बनाने का प्रयत्न ही आत्मघाती सिद्ध होगा।

हम भारतीय साहित्यकार पश्चिम के नए काव्य (Modern poetry) की एक धारा को ही देवता मान बैठे हैं। 'वन्दे देव इलियटम्', इलियट की बुद्धिपरक असाग काव्य-धारा के प्रायश विरुद्ध यीट्स (Yeats) की साग सगठित धारा भी पश्चिमी काव्य में नई कविता (Modern poetry) समझी जाती है। इन दोनो का विरोध तो इसीमे प्रकट होता है कि यीट्स[1]

1. देखिए, Introduction to Oxford Book of Modern Poetry.

रहस्यवाद—एक निरूपण

रहस्यवाद (Mysticism) शब्द अंग्रेज़ी-हिन्दी दोनों में ही कुछ अनिश्चित अर्थों में प्रयुक्त होता रहा है। उन अनिश्चित अर्थों में से कुछ इस प्रकार हैं

(1) व्यक्तिगत धर्म (Personal Religion), जो मानव की सहज ईश्वरोन्मुख प्रवृत्ति पर आधारित है। यह इतना व्यापक अर्थ है कि इसमें धर्म, दर्शन, नीति और व्यवहार-सम्बन्धी सब-कुछ सम्मिलित किया जा सकता है। श्री दासगुप्ता (Hindu mysticism) के अनुसार जीवन की समस्याओं और उद्देश्यों का आध्यात्मिक ग्रहण ही रहस्यवाद है और यह आध्यात्मिक ग्रहण सदैव बुद्धि-ग्रहण से अधिक यथार्थ और पूर्ण होता है। श्री राधाकमल मुकर्जी भी अपनी पुस्तक 'The Theory and Art of Mysticism' में इसी से मिलती-जुलती बात कहते हैं। इसी व्यापक अर्थ के आधार पर इन दोनों विद्वानों ने अपने ग्रंथों में ज्ञान, भक्ति, योग, तंत्र आदि सब प्रकार की साधनाओं को रहस्यवादी माना है। स्पष्ट है कि यहाँ रहस्यवाद शब्द किसी विशिष्ट विचारधारा का व्यंजक न होकर सामान्य आध्यात्मिक दृष्टिकोण का परिचायक है। अब प्रश्न है कि ज्ञान, भक्ति, योग, तंत्र आदि विभिन्न साधनाओं को एक ही शब्द के अन्तर्गत क्यों रखा गया है? अथवा रखा ही गया तो रहस्यवाद (mysticism) शब्द का ही प्रयोग क्यों किया गया है? भारतीय रहस्यवाद के स्थान पर भारतीय अध्यात्मवाद भी तो हो सकता था।

उपर्युक्त विद्वानों की विद्वत्ता के प्रति श्रद्धाभाव होते हुए भी ऐसा लगता है कि 'सब-कुछ' को एक शीर्षक के अन्तर्गत रखने की चेष्टा अनावश्यक ही नहीं, अवैज्ञानिक भी है। ज्ञान और भक्ति में जितनी मूलभूत समानता

(3) तीसरा अर्थ पाश्चात्य विचारको पर आश्रित है। इञ्जे, स्पर्जन, अंडरहिल आदि के आधार पर संक्षेप मे 'रहस्यवाद' की ये विशेषताएँ हैं। दिव्य सारतत्त्व अथवा ससार की वस्तुओ के चरम सत्य को ग्रहण करने (साक्षात्कार करने) का मानव-मन का प्रयत्न रहस्यवाद है। इस प्रयत्न के द्वारा परमोच्च सत्ता के साथ वास्तविक सयोग का आस्वादन होता है, अर्थात् (1) परमोच्च सत्ता के साथ संयोग आवश्यक है। (2) रहस्यवादी वैषम्य मे साम्य और अनेकता मे एकता देखता है। प्रकृति मे ब्रह्मांश के दर्शन करता है। (3) ब्रह्म से उसका सीधा सम्पर्क अथवा संयोग होता है। किसी भी बाह्य माध्यम की आवश्यकता नही है। अतः वह सब प्रकार के माध्यमो की उपेक्षा करता है। (4) ब्रह्म विषय न रहकर अनुभूति बन जाता है। विषय और विषयी मे अभेद स्थापित होता है। (5) वह ब्रह्म को सर्वातीत मानता है और आत्मा को उसके स्वभाव की अधिकारिणी। (6) ब्रह्म-प्राप्ति का साधन आत्मा की नैसर्गिक अतर्दृष्टि (Intuitive knowledge) है। इञ्जे (Inge) बुद्धि (Intellect) को भी महत्त्वपूर्ण बताते हैं। (7) रहस्यवादी साक्षात्कार के बाद समाधि मे रहता है। (8) वह सब वस्तुओ मे ईश्वर के दर्शन करता है अर्थात् वह विश्वदेववादी होता है। (9) रहस्यवाद दार्शनिक सिद्धान्त न होकर एक आध्यात्मिक वातावरण अथवा अनुभूति मात्र है। (10) रहस्यवादी प्रतीकात्मक और पौराणिक (Mythology) होता है। (11) ब्रह्म से प्रेम का सम्बन्ध होता है। यद्यपि स्पर्जन की पुस्तक 'Mysticism in English Literature' मे कई प्रकार के रहस्यवादियो का विवेचन किया गया है, जिनमे प्रेममार्गी रहस्य[illegible] भी एक प्रकार है। शेली और ब्राउनिंग इसके प्रमुख कवि हैं। [illegible] रहस्यवादियों (Devotional mystics) मे ब्लेक [illegible] स्वयं प्रकृतिमार्गी और कोलरिज कल्पना-मार्गी हैं। [illegible] कहा जा सकता है कि रहस्यवादी का ब्रह्म से हृदय

निर्वाण, आत्मिक अनुभूति की अवस्था, विरहावस्था, विशदतावस्था, मिलन के पूर्व की अवस्था और आनन्द की अवस्था। इसी प्रकार सूफी सम्प्रदाय अथवा इस्लामी रहस्यवाद की भी पाँच अवस्थाएँ हैं, (1) शरीअत, (2) तरीकत, (3) हकीकत, (4) मारिफत और (5) हाल। साधारणतः इनका समीकरण योग की स्वप्न, जागृति आदि अवस्थाओं से किया जाता है। सूफी रहस्यवाद की प्रमुख विशेषता प्रेमभाव अथवा मादन भाव पर अत्यधिक बल दिया जाता है।

पर रहस्यवाद नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त एक बड़ी मनोरंजक बात ध्यातव्य है। जिन उक्तियों के आधार पर रहस्यवाद की प्राचीनता सिद्ध की गई है, प्राय उन्ही उक्तियो मे भक्ति का विकास भी निरूपित हुआ है। यदि भक्ति को रहस्यवाद मानने के लिए आलोचकगण तैयार हैं, तो हमे कोई आपत्ति नही है, क्योकि इस प्रकार वे वस्तुस्थिति के अधिक समीप होगे।

हमारे प्राचीन साहित्य मे 'रहस्यवाद' किसी विशेष मत के रूप मे अप्राप्य है, यह सब विद्वान् स्वीकार करते हैं। क्यों अप्राप्य है? इसका कारण जान लें तो रहस्यवाद को 'पुरुष पुरातन' अथवा पुराना सिद्ध करने का दुराग्रह दूर हो जाएगा। पश्चिम और मुस्लिम देशो मे रहस्यवाद और सूफीमत के प्रचलन-प्रचार का एक विशिष्ट कारण है। ईसाई धर्म और इस्लाम, दोनो संस्थागत (Institutional) धर्म हैं। दोनो धर्मों का ब्रह्म *निर्लिप्त और अद्वैत तो है ही, मनुष्य के लिए सीधे ढग से अग्राह्य-अगम्य भी* है। वहाँ पर ब्रह्मपुत्र (Son of God) सिद्धान्त प्रमुख है। फलत जीव का ब्रह्म से सीधा सम्पर्क नही हो सकता। इसके अतिरिक्त इष्टदेव की कल्पना तो वहाँ पर असम्भव-सी ही है। संस्थागत धर्म होने से वहाँ पर कर्म-काण्ड के बन्धन अत्यधिक कठोर हो गये और धर्म, आत्मिक न रहकर धीरे-धीरे व्यावहारिक होता गया। व्यवहार-शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के नियमों का विधान हुआ [illegible]

कहा जाने लगा, क्योंकि यह सर्वांग तर्क-सम्मत, धर्म-सम्मत और परम्परा-सम्मत नहीं था, बल्कि रहस्य-सम्मत था, गूँगे का गुड़ था। पश्चिम में सगुण ब्रह्म की कल्पना के अभाव के कारण रहस्यवाद का लक्ष्य निर्गुण अद्वैत ब्रह्म ही रहा। इस प्रकार स्पष्ट है कि पश्चिम में रहस्यवाद और इस्लाम में सूफीमत के उद्भव और विकास के मूल में यह प्रतिक्रिया थी। रहस्यवाद के सिद्धान्तों के समर्थन के लिए फिर प्लोटिनस, स्पिनोज़ा, एरवार्ट, हिगल, कान्ट आदि का नाम गिनाया गया है। जर्मन दार्शनिकों का अंग्रेजी रहस्यवादियों पर प्रभाव भी पड़ा है, पर इस मत के मूल में कथित प्रतिक्रिया है।

भारत में धर्म और दर्शन अलग नहीं रहे। धर्म ने सत्ता अथवा राज्य का रूप कभी धारण नहीं किया। अद्वैत की कल्पना रही, पर द्वैतवादी भी हिन्दू ही रहे। तात्पर्य यह कि दार्शनिक मतों अथवा धार्मिक विश्वासों पर भी कठोर प्रतिबन्ध नहीं रहा। वेदों से लेकर आधुनिक काल तक का साहित्य इस बात का प्रमाण है। अतः भारत के प्राचीन काल में प्रतिक्रिया के स्थान पर क्रमशः विकास हुआ है। यद्यपि प्राय विकसित रूप अपने पूर्व स्रोत से कभी-कभी विरुद्ध-सा भी दिखाई देता है, तो भी उसकी एक परम्परा है। भारतीय चिन्ता-धारा का भूत सदैव भविष्य को सँभालता और प्रेरणा देता रहा है। कभी भी यहाँ के भूत और भविष्य परस्पर सम्मुख हो मल्लयुद्ध में प्रवृत्त नहीं हुए। इसलिए औपनिषद ज्ञान की उत्पत्ति वेदों से हुई और व्यक्ति-परक (Personalistic) उपनिषदों से भक्ति की। सगुण ब्रह्म की कल्पना भी वैदिक परम्परा-सिद्ध है। पश्चिम में यह कल्पना भी नहीं आई। फलतः रहस्यवाद अद्वैतवादी हुआ। अतः भक्ति और रहस्यवाद का अन्तर वस्तुतः प्राच्य और पाश्चात्य चिन्ताधारा की विभिन्नता के कारण है। यदि पश्चिम वाले भक्ति को ज्ञान की प्रतिक्रिया मानें तो भी हमारे कथ्य में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ेगा। तो भारत में भक्ति उत्पन्न हुई इसलिए रहस्यवाद उत्पन्न नहीं हुआ। वास्तव में भक्ति और रहस्यवाद के प्रादुर्भाव की मूल प्रवृत्ति एक ही है। क्योंकि रहस्यवाद जिस हृदयधर्मिता को लेकर चला है वह भक्ति का प्राण है। इसलिए आनन्दवादी धारा की रहस्यात्मक कल्पना

मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि परिवेश से व्यक्ति का मनस् घनिष्ठ सम्बद्ध है। परिस्थिति में मनुष्य का सम्पर्क उसके मन में कुछ प्रतिक्रियाएँ उत्पन्न करता है। ये प्रतिक्रियाएँ रागात्मक या भावात्मक भी हो सकती हैं और बौद्धिक वस्तुपरक भी। मन या तो वस्तु को अन्तर्भूत कर लेता है या स्वयं को बहिर्भूत कर वस्तुनिष्ठ बनाता है। प्रथम प्रतिक्रिया में सहजानुभूति के आधार पर परिवेश का एक रूप मन में उद्घाटित होता है, जिसमें परिवेश और व्यक्ति के द्वैत और भेद का सामंजस्य उत्पन्न होता है। यदि यह सामंजस्य भावाश्रित रहे तो धर्मादि विकसित होते हैं और बुद्ध्याश्रित हो जाए तो प्रत्ययवादी दर्शन की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार परिवेश का अन्तर्भाव, उसकी आत्मनिष्ठ व्याख्या ही, आत्मा, प्रत्यय, ईश्वर की धारणाओं के आविर्भाव के लिए उत्तरदायी है, किन्तु ये धारणाएँ बुद्धि-शासित होते हुए भी मूल में रागात्मक प्रतिक्रिया में प्रेरित होती हैं। ये धारणाएँ पुनः व्यक्ति के मन को संस्कारयुक्त करती हैं, जिससे वह परिवेश को इन धारणाओं के माध्यम से ग्रहण करता है अर्थात् उसका मानसिक 'रूप' निर्मित कर तत्सम्बद्ध होना है। संक्षेप में, इस प्रक्रिया से मनुष्य का एक दृष्टिकोण निर्मित होता है, जिसके माध्यम से वह अपने परिवेश से जुड़ता है। यह दृष्टिकोण वस्तु के राग-प्रेरित तथा तदनन्तर बुद्धि-संयुक्त अन्तर्भाव पर आश्रित होने के कारण भेद में अभेद, अनेक में एक और द्वैत में अद्वैत की स्थापना करने का प्रयत्न करता रहता है। दूसरी ओर यदि यह मानसिक प्रतिक्रिया वस्तु-प्रेरित राग-विहीन हो या सामान्य बुद्धिगत हो तो द्वैत, भेद अथवा अनेकत्व का बोध होता है और इन्द्रिय-प्रमाण पर आधारित बहिर्वस्तु की सत्यता का ज्ञान प्राप्त होता है। इस क्षेत्र में व्यक्ति का मनस् वस्तुनिष्ठ हो जाता है, इसमें राग की संयुक्ति मान्य नहीं होती। वस्तु के अन्तर्भाव के स्थान पर मनस् का बहिर्भाव होता है अर्थात् बाहरी सत्ता या परिवेश के प्रमाण से ही मनस् के रूप-स्वरूप और दृष्टिकोण का निर्माण होता है। स्पष्ट है कि इस दिशा से मनुष्य परिवेश (भौतिक वस्तु, समाजादि की परिस्थिति) को रागात्मक स्तर पर ग्रहण नहीं करता, बल्कि मन की शुद्ध

आधुनिकता और भारतीय परम्परा

'आधुनिकता' की संज्ञा 'आधुनिक' विशेषण से बनी है। मनुष्य के सन्दर्भ में 'आधुनिक' विशेषण से दो दिशाएं ध्वजित होती हैं—(1) उसका भौतिक परिवेश, जो अनिवार्यतः देशकालगत होता है और (2) उसका मनस्, जो परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। 'आधुनिक' की पहली दिशा देशकालबद्ध होने से वस्तु-सापेक्ष और सतत परिवर्धनशील है। यह मनुष्य के बहिरंग अर्थात् उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्था की द्योतक है। इस बहिरंग के विकास-विकार की प्रक्रिया सदैव गतिशील रहती है, फलत 'आधुनिक' भी भूत-भविष्य के क्रम में भूलता रहता है। वह स्थायी नहीं होता, बहिरंग के परिवर्तन के साथ ही प्राचीन (भूत) बन जाता है। द्वितीय महायुद्ध 'आधुनिक' था, आज प्राचीन है, जबकि वियत-नाम युद्ध 'आधुनिक' समस्या है। एक वाक्य में कहें तो 'आधुनिक' की यह दिशा समकालीनता है, जो वस्तु-सापेक्ष है, फलतः ऐतिहासिक है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि 'आधुनिकता' का एक रूप समकालीनता भी है। और इस समकालीनता का प्राचीनता से संघर्ष नहीं है, यह केवल वस्तुगत परिस्थिति के प्राचीन रूप का विकास या विकार मात्र है। तो आधुनिकता के इस ऐति-हासिक क्षेत्र में पुराने और नये का झगड़ा है ही नहीं। यह भावरहित संक्र-मण की प्रक्रिया है, इसलिए संघर्ष या विरोध की . .

'आधुनिक' की दूसरी दिशा मनस् से
साहित्य और दर्शन के क्षेत्र में अत्यधिक
पर प्रभाव होता है या मनस् के
होता है—इस विवाद का

पूर्णत विवेक (rationality) पर ही आश्रित है। विवेकज पद्धति का प्रयोग प्राय सब ग्रीक परम्परा के दार्शनिक आज तक करते रहे हैं और कर रहे हैं। विवेक, जैसा कि पहले कहा गया है, इन्द्रिय-बोधपरक होने के कारण बाहरी वस्तु के भिन्नत्व को स्वीकार करके चलता है। ये दार्शनिक इस भिन्नत्व का अभिन्न मे समाहार किसी पूर्वधारणा (Hypothesis) के आधार पर ही कर सके हैं, क्योंकि बुद्धि विश्लेषणात्मक होने के कारण बहिर्व्याप्त द्वैत (अथवा अनेकत्व) को किसी बुद्धिगत अद्वैत-धारणा तक नही पहुँचा सकती। सक्षेप मे ग्रीक परम्परा किसी बुद्ध्यातीत अर्थात् तर्कातीत पूर्वधारणा की स्वीकृति के आधार पर आगमन पद्धति से वस्तु या परिवेश का बुद्धि के द्वारा विवेचन करती रही है। प्लेटो-दर्शन से उद्भूत या प्रभावित जीवन-दृष्टि का निर्माण इसी तथ्य के सहारे हुआ है। स्पष्ट है कि यहाँ सश्लेषक सहजानुभूति (पूर्वधारणा) की नीव पर ही विश्लेषक बुद्धि (आगमनादि कार्य) अपने निष्कर्ष गढती है। इसका परिणाम यह हुआ है कि परिवेश और व्यक्ति मे किंचित् सघर्ष की गुजाइश होते हुए भी अन्तत सामजस्य स्थापित हो सकता है। ग्रीस की दूसरी डेमोक्रिट्स और हेरेक्लिट्स की विचार-परम्परा तो अधिकाशत बुद्धिपरक ही है। प्रत्यय (Idea) के विरुद्ध अणु (डेमोक्रिट्स) और प्रवाह (हेरेक्लिट्स) की तथ्यता का सस्थापन पूर्णत बौद्धिक है। यहाँ सहजानुभूति पर बहुत कम बल प्राप्त होता है। निष्कर्षत कहा जा सकता है कि ग्रीक की दोनो विचारधाराओं मे बहिरग की कमोवेश स्वीकृति है और बुद्धि को समान रूप मे अत्यधिक महत्त्व ही नही दिया गया है, उसे विश्व और अन्तिम सत्ता के परमज्ञान प्राप्त करने का एकमात्र साधन भी माना गया है। ग्रीक परम्परा बुद्धि के अतिरिक्त अन्य किसी ज्ञान के साधन को अस्वीकार करती है।

इसी ग्रीक परम्परा की 'बौद्धिकता' का परिणाम है, पश्चिम मे विज्ञान का विकास। बुद्धि स्वधर्म से अन्तः की अपेक्षा बहिः को सत्य या प्रमाण अथवा मानदण्ड मानती है। क्योंकि बहि इन्द्रियगम्य है, फलत. बुद्धि-साध्य हो सकता है। यह बहि. की बुद्धि-साध्यता ही विज्ञान (बहिः का अध्ययन)

आधुनिकता और भारतीय परम्परा

'आधुनिकता' की सज्ञा 'आधुनिक' विशेषण से बनी है। मनुष्य के सन्दर्भ मे 'आधुनिक' विशेषण से दो दिशाएँ व्यजित होती हैं—(1) उसका भौतिक परिवेश, जो अनिवार्यतः देशकालगत होता है और (2) उसका मनस्, जो परिवेश के प्रति प्रतिक्रिया उत्पन्न करता है। 'आधुनिक' की पहली दिशा देशकालबद्ध होने से वस्तु-सापेक्ष और सतत परिवर्धनशील है। यह मनुष्य के बहिरग अर्थात् उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अवस्था की द्योतक है। इस बहिरग के विकास-विकार की प्रक्रिया सदैव गतिशील रहती है, फलत. 'आधुनिक' भी भूत-भविष्य के क्रम मे झूलता रहता है। वह स्थायी नहीं होता, बहिरंग के परिवर्तन के साथ ही प्राचीन (भूत) बन जाता है। द्वितीय महायुद्ध 'आधुनिक' था, आज प्राचीन है, जबकि वियतनाम युद्ध 'आधुनिक' समस्या है। एक वाक्य में कहें तो 'आधुनिक' की यह दिशा समकालीनता है, जो वस्तु-सापेक्ष है, फलतः ऐतिहासिक है। इससे यह भी स्पष्ट हुआ कि 'आधुनिकता' का एक रूप समकालीनता भी है। और इस समकालीनता का प्राचीनता से सघर्ष नहीं है, यह केवल वस्तुगत परिस्थिति के प्राचीन रूप का विकास या विकार मात्र है। तो आधुनिकता के इस ऐतिहासिक क्षेत्र में पुराने और नये का झगडा है ही नहीं। यह भावरहित संक्रमण की प्रक्रिया है, इसलिए सघर्ष या विरोध की उपस्थिति अकल्प्य है।

'आधुनिक' की दूसरी दिशा मनस् से सम्बद्ध है और समाजशास्त्र, साहित्य और दर्शन के क्षेत्र मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। परिवेश का मनस् पर प्रभाव होता है या मनस् के प्रभाव से परिवेश प्रभावित, फलतः परिवर्तित होता है—इस विवाद का अन्त आज तक नहीं हो पाया है। फिर भी यह

के प्रति अडिग आस्था और अन्धविश्वास उसके मन में नहीं हो सकता। वह फलत सिद्ध होने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता था, क्योंकि विज्ञान मे तथ्य का 'इदमित्थम्' रूप कभी भी प्राप्त नहीं होता। इसका यह अर्थ हुआ कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रागद्वेष-रहित होकर प्राप्त तथ्य के भिन्न अथवा विरुद्ध रूप को स्वीकार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। इसमे प्रबोधयुग का अविवेकी वद्धमूलत्यापन नहीं है। इस रूप मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रीक-दर्शन से उद्भूत जीवन-दृष्टि का विरोधी नहीं, पूरक है। ग्रीक जीवन-दृष्टि भौतिक वस्तु के बौद्धिक विश्लेषण के अतिरिक्त मानवीय सम्बन्धो के आन्तरिक विधान का भी विवेचन करती रही है, जबकि विज्ञान भौतिक वस्तु के अध्ययन तक ही सीमित था। इसके द्वारा प्राप्त तथ्य भी ग्रीक दर्शन के अनुसारी ही हैं, इस बात का सकेत हम पहले कर चुके हैं। विज्ञान के तथ्यों के आधार पर परिकल्पित रोमैंटिक दृष्टिकोणों ने ग्रीक परम्परा का खण्डन अवश्य किया है, किन्तु वे दृष्टिकोण बौद्धिक कम और भावात्मक अधिक थे। इस बात का विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।

इस तरह पश्चिमी इतिहास मे उत्पन्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक चेतना का मूलीय ग्रीक-परम्परा से द्वेष या विरोध नहीं दिखाई देता। दोनों मे सामान्यीकरण, बुद्धि या तर्क (reason), वहिर्जगत् की सत्ता की स्वीकृति, स्थितप्रज्ञता आदि तत्त्व समान रूप से प्राप्य हैं। विज्ञान की मूल्य-निरपेक्षता का भी ग्रीक मूल्य-सापेक्षता से विरोध इसलिए नहीं है, क्योंकि विज्ञानीय मूल्य-निरपेक्षता का क्षेत्र भौतिक जड प्रकृति है, मानव-समुदाय की समाज-सापेक्ष चेतना नहीं। विज्ञान की ग्रीक परम्परा से सुसम्बद्धता गणित, भौतिकी, रसायन आदि मे उपलब्ध 'अरिस्टोटेलियन···' पद से भी सिद्ध होती है। इन सब विषयों मे अरस्तू के प्रदाय का स्वीकार ही यह सिद्ध करता है कि विज्ञान ग्रीक परम्परा का ही परिणाम है। फलत विज्ञान की 'आधुनिकता' ग्रीस की 'प्राचीनता' की विरोधी नहीं, तत्सम्बद्ध और तत्सहायक है। इसलिए विज्ञान ने पश्चिमी मनुष्य को निस्सहाय, निर्मूल और

की जननी है।

विज्ञान के विकास से उपजे विकार का विवेचन करने से पूर्व इस बा
पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है कि विज्ञान ग्रीक परम्परा का विकास
परिणाम है, विरोधी नहीं। ग्रीक परम्परा जिस प्रकार एक (व्यक्ति)
अनेक (वस्तुएँ और समाज) और अनेक से एक की सामान्यता की स्थापन
बौद्धिक रीति से करती रही है, वही बुद्धि-प्राप्त सामान्यता हमें विज्ञान में भ
प्राप्त होती है। कुछ अंश तक तो विज्ञान डेमोक्रिट्स के मत की न्याय-प्रदर्श
(justification)-सा लगता है। इसके अतिरिक्त जीवन और जगत् के प्रति
विज्ञान-पूर्व ग्रीक दृष्टिकोण से भी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का सम्पूर्ण विरोध
(contradiction) नहीं है। ग्रीक दृष्टिकोण भी सामान्य, वस्तुपरक
(objective) और पूर्वधारणा पर आश्रित रहा है और विज्ञान भी इन तीनों
बातो को स्वीकार करता है। विज्ञान अन्तर्निष्ठ चेतनात्मक प्रत्यय (Idea)
के स्थान पर बहिर्व्याप्त पदार्थगत प्रत्यय की स्थापना करता है। दूसरा अन्तर
जो इन दोनों दृष्टिकोणो मे द्रष्टव्य है, वह है मूल-सम्बन्धी विचार का।
ग्रीक दर्शन पर आधारित विचारणा मूल्य-सापेक्ष रही है, जबकि विज्ञान
मूल रूप मे भौतिक ही होने के कारण मूल्य-निरपेक्ष हो गया है। इन अन्तरों
के बावजूद भी यह वैज्ञानिक प्रत्यय सामान्य, वस्तुपरक और पूर्वधारणा-
युक्त है।[1]

वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपने प्रारम्भ मे वस्तु के भौतिक रूप-स्वरूप के
विश्लेषण तक ही सीमित था, फलत. इसमे सामाजिक, नैतिक और धार्मिक
मूल्यो के प्रति निरपेक्षता प्राप्त होती है। वैज्ञानिक का उद्देश्य उस समय
पदार्थगत परिवेश अर्थात् प्रकृति के तथ्यात्मक सत्य-स्वरूप का उद्घाटन ही
था। वैज्ञानिक बौद्धिक-प्रक्रिया के द्वारा वस्तु का परीक्षण कर उसकी यथार्थ
सीमा-सम्भावना का परिचय देना था। इसी के अन्तर्गत उसे अपने माध्यम
(बुद्धि) और सामर्थ्य की सीमा को भी स्वीकृत करना पड़ता था। प्राप्त सत्य

1. विज्ञान 'नियमाशासित ब्रह्माण्ड' (Law-governed universe) की पूर्व-
धारणा से ही आगे बढ़ता है।

के प्रति अडिग आस्था और अन्धविश्वास उसके मन मे नही हो सकता। वह गलत सिद्ध होने के लिए सदैव प्रस्तुत रहता था, क्योंकि विज्ञान मे तथ्य का 'इदमित्थम्' रूप कभी भी प्राप्त नही होता। इसका यह अर्थ हुआ कि वैज्ञानिक दृष्टिकोण रागद्वेष-रहित होकर प्राप्त तथ्य के भिन्न अथवा विरुद्ध रूप को स्वीकार करने के लिए सदैव उद्यत रहता है। इसमे प्रबोधयुग का अविवेकी षटमुल्लापन नही है। इस रूप मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण ग्रीक-दर्शन से उद्भूत जीवन-दृष्टि का विरोधी नही, पूरक है। ग्रीक जीवन-दृष्टि भौतिक वस्तु के बौद्धिक विश्लेषण के अतिरिक्त मानवीय सम्बन्धो के आन्तरिक विधान का भी विवेचन करती रही है, जबकि विज्ञान भौतिक वस्तु के अध्ययन तक ही सीमित था। इसके द्वारा प्राप्त तथ्य भी ग्रीक दर्शन के अनुसारी ही हैं, इस बात का सकेत हम पहले कर चुके हैं। विज्ञान के तथ्यो के आधार पर परिकल्पित रोमेंटिक दृष्टिकोणों ने ग्रीक परम्परा का खण्डन अवश्य किया है, किन्तु वे दृष्टिकोण बौद्धिक कम और भावात्मक अधिक थे। इस बात का विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे।

इस तरह पश्चिमी इतिहास मे उत्पन्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक चेतना का मूलीय ग्रीक-परम्परा मे द्वेष या विरोध नही दिखाई देता। दोनो मे सामान्यीकरण, बुद्धि या तर्क (reason), बहिर्जगत् की सत्ता की स्वीकृति, स्थितप्रज्ञता आदि तत्त्व समान रूप से प्राप्य हैं। विज्ञान की मूल्य-निरपेक्षता का भी ग्रीक मूल्य-सापेक्षता से विरोध इसलिए नही है, क्योकि विज्ञानीय मूल्य-निरपेक्षता का क्षेत्र भौतिक जड प्रकृति है, मानव-समुदाय की समाज-सापेक्ष चेतना नही। विज्ञान की ग्रीक परम्परा से सुसम्बद्धता गणित, भौतिकी, रसायन आदि मे उपलब्ध 'अरिस्टोटेलियन'''' पद से भी सिद्ध होती है। इन सब विषयो में अरस्तू के प्रदाय का स्वीकार ही यह सिद्ध करता है कि विज्ञान ग्रीक परम्परा का ही परिणाम है। फलत विज्ञान की 'आधुनिकता' ग्रीस की 'प्राचीनता' की विरोधी नही, तत्सम्बद्ध और तत्सहायक है। इसलिए विज्ञान ने पश्चिमी मनुष्य को निस्सहाय, निर्मूल और

वस्तुपरक बौद्धिक (rational) भूमि पर ही उसकी त
बोध या 'निर्माण' करता है।

मनस् के इन दोनों कार्य-व्यापारों में बुद्धि समान र
है। किन्तु प्रथम के मूल में रागात्मक अनुभूति है, जबकि
बौद्धिक प्रतीति पर आधारित है। स्थूल रूप में हम यह
प्रथम से प्रत्ययवादी (Idealistic) दर्शन का विकास हुआ
विज्ञान और विज्ञान-प्रभावित वस्तुपरक दर्शनों का।

'आधुनिकता' को यदि इस परिप्रेक्ष्य में समझा जाए तो

अनावश्यक है, प्रकृति स्वमानित है, यहीं लोक है, मनुष्य न पापी है और न पुण्यभागी, इसलिए अनुकम्पा का सिद्धान्त निरर्थक है, आदि व्यजित सिद्धान्तों ने मध्यकालीन ईसाई-धर्म-दृष्टि को खण्ड-खण्ड कर दिया था। स्पष्ट है कि विज्ञान की 'आधुनिकता' का मध्यकालीन भावाश्रित रूढ़ि-रिवाजों से प्रश्न 'प्राचीनता' से विरोध है, ग्रीक परम्परा से नहीं। यह विरोध भी विज्ञान की ओर से उद्दिष्ट नहीं है, उसके तथ्यों और आविष्कारों का प्रभाव-जन्य फल ही है। धर्म ही फलतः लड़ता रहा है, इसलिए पराजय भी धर्म की ही है।

इस वैज्ञानिक शोध और उपलब्धि को पश्चिमी व्यक्ति ने दो प्रकारों से गृहीत किया और दुर्भाग्य से वे दोनों प्रकार अवैज्ञानिक थे। प्रथमतः रूमानी भावात्मक प्रकार से इसे ग्रहण कर पश्चिमी व्यक्ति ने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य, समानता, बुद्धि की महत्तमता, मानवीय पूर्णता की सम्भावना, उन्नतिशीलता आदि उन अनेक 'अवैज्ञानिक' भाव-प्रधान धारणाओं के स्वप्निल जगत् का निर्माण किया, जिसे इतिहास में प्रबोध-युग (Age of Enlightenment) माना जाता रहा है। इस युग में बुद्धि की सर्वकारिता (विज्ञान की प्रकृति पर अद्भुत विजय के कारण) पर अत्यधिक विश्वास पनपा और मनुष्य की पूर्णता का सपना इसी धरती पर बसाया जाने लगा। उस समय तक फ्रायड पैदा नहीं हुआ था। इसलिए मनुष्य की मूल सद्भावना, जो धुँधले रूप में प्लेटो की शिव-धारणा (The Good) से प्रेरित थी, में प्रबोध-युग का अटूट विश्वास था। ये सपने आगे ध्वस्त हो गए, क्योंकि ये भावात्मक रूमानियत से जन्मे थे, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के प्रतिफल नहीं थे। इसी प्रकार से सम्बद्ध वह दूसरा उपयोगितावादी प्रकार है, जहाँ विज्ञान के निष्कर्षों को बाजारू मनोवृत्ति के अनुसार गृहीत किया गया। भौतिक सुख और सम्पत्ति की प्राप्ति के लिए उसका उपकरणीय प्रयोग किया गया। औद्योगीकरण और तकनीकी प्रगति इस विशिष्ट प्रयोग का परिणाम है। इन दोनों रूमानी और व्यावहारिक सकाम दृष्टियों का परिणाम है—रोमेन्टिसिज्म, उपयोगितावाद, प्रजातन्त्र, व्यक्तिपरकता और औद्योगिक

रहा था।) सक्षेप में कहे तो 'आधुनिकता' यहाँ धर्म-निरपेक्ष मानवतावादी रूप में आती है, जिसका परिगम (approach) विज्ञान के बावजूद भी भावनात्मक (Romantic) है। दार्शनिक दृष्टि से सोचें तो अत्यधिक धुंधले रूप मे यह प्लेटो दर्शन से भी संयुक्त दिखाई देता है।

विज्ञान की गलतफहमी[1] पर आधारित इस वक्तव्य ने प्रबोध-युग (आधुनिकता) पर विज्ञान के द्वारा ही प्राणान्तक हमला हुआ। यहाँ विज्ञान के दो रूपों को विभाजित कर लेना आवश्यक है। मूलत विज्ञान निरीक्षण-प्रयोग से बद्ध जड प्रकृति तक ही सीमित था अर्थात् वह भौतिक ही था। किन्तु कालान्तर मे भूत-विज्ञान की चामत्कारिक सफलता से अभिभूत होकर इस वैज्ञानिक जडप्रकृति-सापेक्ष रीति का प्रयोग समाज, मन, इतिहास, दर्शन कला आदि चेतन विषयो पर भी किया जाने लगा। परिणामत समाज-'विज्ञान', मनो-'विज्ञान', इतिहास-'विज्ञान', दर्शन-'विज्ञान' (Logical positivism) आदि तथाकथित विज्ञानो की उत्पत्ति हुई, जो विज्ञान कम और भ्रमज्ञान अधिक हैं, क्योंकि सर्वेक्षण के द्वारा या तो ये बहुसख्या की बात कहते हैं या अल्पसख्या की बात को बहुसख्या पर आरोपित करते हैं। फलत सर्जक चेतना, जो इन क्षेत्रो मे अत्यधिक महत्वपूर्ण है, इनके 'विज्ञान' से बाहर ही रह जाती है। इस तरह इनका विज्ञान भ्रमज्ञान सिद्ध हुआ है और हो रहा है। मूल्यगत सापेक्षता और विषयी-गतता इसी 'विज्ञान' के अवैज्ञानिक परिणाम हैं। यहाँ हम अधिक विस्तार न कर इतना सकेत ही पर्याप्त समझते हैं कि डार्विन के विकासवाद ने 'मूल्यों' को प्राकृतिक चुनाव (natural selection) के द्वारा निरर्थक सिद्ध किया और साथ-ही-साथ प्रकृति की नियमबद्धता (causality) पर भी प्रहार किया। विशिष्ट कोशिकाओं के प्रादुर्भाव का कोई तर्कसगत स्पष्टी-करण विकासवादियों के पास आज तक अनुपलब्ध है। इस प्रकार डार्विन धर्म-भजक ही नही, तथाकथित विज्ञान तथा प्रबोध-युगीन व्यक्ति के देवता

1. इस शब्द का विशद विवेचन इसी पुस्तक में सकलित मूल्य-सम्बन्धी निबन्धों में द्रष्टव्य है।

अर्थव्यवस्था, जिन्होंने रहे-सहे धर्म को ही निष्कासित नहीं किया, समाज के कृषि-प्रधान ग्राम-केन्द्रित विधान को भी विशृंखलित कर दिया। इसके अतिरिक्त इस विधान को सचालित करने वाले धार्मिक और आदर्शनिष्ठ मूल्यो मे तोड़-फोड़ हुई और व्यक्तियो के पारस्परिक भावात्मक सम्बन्धों मे नवीन विघटनकारी अराजकता उत्पन्न हुई है, जिसे मानवतावाद के अस्थायी नशे मे कुछ समय तक भुलाया जाता रहा, किन्तु अदबद कर वही अराजकता जब-तब अपना सिर उठाती रही है।

इन्ही अस्पष्ट श्रद्धाधर्मी प्रबोधयुगीन विचारों ने विज्ञान के हथियार से सर्वशक्तिमान ईश्वर को कत्ल कर दिया, जिसकी पीडादायी अनुभूति डेस्टोवस्की के नायक को होती है तथा नीत्शे का बूढा पागल भी ईश्वर की मृत्यु के दर्द से पागल बना उसे खोज रहा है। उसके इस चीत्कार का आस-पास सड़क पर खडे 'प्रबुद्ध' लोगो पर कोई असर नही होता, क्योंकि वे नियमशासित न्यूटोनियन प्रकृति के आगोश मे निश्शंक 'मानव-पूर्णता' और तर्क-देवी' की आरती उतार रहे होते हैं। अपने 'अहं' की मृगमरीचिका मे मानवेतर शक्ति का विचार ही उन्हे हास्यास्पद लगता था। परिणामत जब तक प्रकृति न्यूटोनियन रही अर्थात् निश्चित और मानव-विजेय रही, तब तक तकनीकी भौतिकता के विकास, मशीन के चक्रो की 'मधुर' गति और बुद्धिनिष्ठ व्यक्ति-स्वातन्त्र्य से युक्त प्रजातांत्रिक समाज-रचना के सुरगे हवा-स्वप्नो मे पश्चिमी मन आत्मतुष्ट-सा फुदकता रहा। पर यह सपना क्षण-स्थायी ही रहा, क्योंकि यह मूलतः ही वैज्ञानिक नहीं, धार्मिक था। ईसाई धर्म के स्थानापन्न (Substitute) के रूप मे उद्भूत हुआ था। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस प्रबोधयुगीन 'आधुनिकता' (रोमासवाद) और ईसाई धर्म की श्रद्धाश्रित रूढि-रिवाजपूर्ण प्रवृत्ति मे कोई विशेष अन्तर नहीं है। दोनो के मूल में भावुकतापूर्ण दृष्टि रही है, वैज्ञानिक बौद्धिकता नही। पर यहाँ तक आते-आते 'आधुनिकता' ने ईश्वर का वध कर दिया था। (पर यह ध्यान रहे कि यह ईश्वर ईसाई धर्म का 'ईश्वर' है, जो (Let there be light, And there was light) की अबौद्धिक श्रद्धा (Faith) पर जी

रहा था।) संक्षेप में कहे तो 'आधुनिकता' यहाँ धर्म-निरपेक्ष मानवतावादी रूप में आती है, जिसका परिगम (approach) विज्ञान के बावजूद भी भावनात्मक (Romantic) है। दार्शनिक दृष्टि से सोचें तो अत्यधिक धुंधले रूप मे यह प्लेटो दर्शन से भी सयुक्त दिखाई देता है।

विज्ञान की गलतफहमी [1] पर आधारित इस बचकाने प्रबोध-युग (आधुनिकता) पर विज्ञान के द्वारा ही प्राणान्तक हमला हुआ। यहाँ विज्ञान के दो रूपो को विभाजित कर लेना आवश्यक है। मूलत विज्ञान निरीक्षण-प्रयोग में बद्ध जड प्रकृति तक ही सीमित था अर्थात् वह भौतिक ही था। किन्तु कालान्तर मे भूत-विज्ञान की चामत्कारिक सफलता मे अभिभूत होकर इस वैज्ञानिक जडप्रकृति-सापेक्ष रीति का प्रयोग समाज, मन, इतिहास, दर्शन कला आदि चेतन विषयो पर भी किया जाने लगा। परिणामत समाज-'विज्ञान', मनो-'विज्ञान', इतिहास-'विज्ञान', दर्शन-'विज्ञान' (Logical positivism) आदि तथाकथित विज्ञानो की उत्पत्ति हुई, जो विज्ञान कम और भ्रमज्ञान अधिक हैं, क्योंकि सर्वेक्षण के द्वारा या तो ये बहुसख्या

(Logical positivism) केवल व्यावहारिक वस्तुओं और भाषा तक ही सीमित है, प्रकारान्तर से लघुता को स्वीकारता है, क्योंकि वह भूतातीत विद्या (Metaphysics) के प्रश्नों को निरर्थक और भाषागत भ्रम मात्र मानता है, जो बुद्धि की पकड़ में नहीं आते।

इस ऐतिहासिक विहगावलोकन में हम निम्नलिखित निष्कर्ष निकाल सकते हैं—

(1) 'आधुनिकता' का मूल विज्ञान का विकास है।

(2) इसका मूलत संघर्ष ग्रीक 'प्राचीनता' में नहीं हुआ, बल्कि मध्यकालीन धार्मिक 'प्राचीनता' से हुआ है। फलत वैचारिक स्तर पर यह 'परम्परा' का ही विकास है।

(3) यह आधुनिकता विज्ञानाश्रित होते हुए भी 'वैज्ञानिक' कभी भी नहीं रही। परिणाम में भावनात्मक ही रही। इसने धार्मिक भाव को नष्ट नहीं किया, ईसाई धर्म के विश्वासों का उन्मूलन ही किया। प्रबोधयुगीन 'आधुनिकता' मानवतावाद ही थी, जो धर्म बनने की ओर प्रवृत्त थी।

(4) आधुनिकता का रूप परिवर्तित होता रहा है, पर कुछ मूल तथ्य हैं, जो निरन्तर सूक्ष्मत प्रवहमान दिखाई देते हैं। बुद्धि-श्रद्धा, ईसाई धर्माभाव, बहिर्वस्तु की ओर अभिमुखता, व्यक्तिपरकता, मूल्य-चेतना, भौतिक उपयोगितावाद, प्रजातन्त्रवाद आदि धारणाएँ आज तक की 'आधुनिकता' में प्राप्त होती हैं। आज की आधुनिकता में निर्मूलता, भय, अनिश्चय, संत्रास, नगण्यता, व्यक्तित्व-ह्रास की पीड़ा, अनास्था, मृत्यु-बोध आदि के अभावात्मक भाव अधिक हैं, जबकि पूर्व प्रबोध-युगीन रूप में सर्जक भावों की प्रधानता थी।

(5) इस विवेचन से यह भी सिद्ध हुआ कि आधुनिकता कोई निश्चित वैचारिक दृष्टिकोण नहीं है। इसमें अनेक प्रकार के विचार (विशेषत आज की परिस्थिति में) समाहित हो सकते हैं। वस्तुत, मुझे लगता है कि 'आधुनिकता' वस्तु, परिस्थिति या समस्या के अनुभव की ईसाई-धर्मरहित रीति-मात्र ही है, यह इसी रूप में दृष्टिकोण है। तत्सम्बद्ध निश्चित

विवेक (reason) का भी महाराक सिद्ध होता है। दूसरी तरफ मनो-'विज्ञान' के क्षेत्र में फ्रायड ने भी अचेतन मन की प्रस्थापना के द्वारा व्यक्ति के विवेक को पीछे धकेल दिया और मनुष्य के पाशविक नंगे रूप का प्रदर्शन किया। यद्यपि फायड मूलतः बुद्धि अथवा विवेक के समर्थक थे, पर उनके सिद्धान्त को भी गलत ढंग से ग्रहण किया गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि प्रबोध-युगीन गर्वशक्तिसम्पन्न मानव अचेतन पशु मात्र रह गया। तीसरे सज्जन मार्क्स थे, जिन्होंने प्रबोध-युग की नींव पर खड़ी अर्थ-व्यवस्था (पूंजीवाद) और राजनीतिक व्यवस्था (प्रजातन्त्र) को ही खण्डित कर दिया। और-तो-और, भूत-विज्ञान (Physics) के क्षेत्र में भी प्रकृति की न्यूटोनियन व्यवस्था और निश्चितता (determinism) की धारणाओं को भ्रम सिद्ध करने वाले हेजेनबर्ग की अनिश्चितता, क्वाटम और आइंस्टिन की सापेक्षता के सिद्धान्त भी पैदा हुए। इनके कारण प्रकृति पदार्थगत नहीं रही, वह ऊर्जा (energy) रूप हो गई तथा प्रकृति का प्रमुख कार्य-कारण (causality) सम्बन्ध भी बदलकर सापेक्षता (relativity) बन गया, जिसके कारण पूरा प्रकृति-व्यापार अनिश्चित, फलतः अकथनीय साबित हुआ। इन सब हलचलों के फलस्वरूप प्रबोधयुगीन मानवता और मानव-प्रगति पर आधारित 'आधुनिकता' डगमगा उठी। वह शंका, संशय, भय, सन्त्रास, अनिश्चय, तर्कविनुखता आदि के भावों से आन्दोलित होने लगी। रही-सही कमी की पूर्ति दो विश्व-युद्धों ने कर दी, जिनके माध्यम से मनुष्य की स्वार्थपरायण पाशविकता अपने नंगे रूप में प्रकट हो गई। अणु-युग की विनाशशीलता ने विज्ञान के प्रति अश्रद्धा और तिरस्कार का भाव पश्चिमी व्यक्ति में उत्पन्न किया है, जो वहाँ प्रचलित बुद्धि-विरोध (Anti-intellectualism) से सूचित होता है। इसके अतिरिक्त नकारवाद (Nihilism), इन्द्रियवाद, मूल्य-हीनतावाद आदि अनेक प्रवृत्तियाँ इसी अवैज्ञानिक भावुक दृष्टिकोण की

दर्शन में भी अस्तित्ववाद जैसे अनुभूतिप्राण सिद्धान्त उभरे हैं, लघुता को मानते हुए भी अहंकारोक्ति के साथ मानव की सम्पूर्ण नियति को स्वीकार करते हैं। तर्कमूलक वस्तुवाद

(८) आधुनिकता स्वयं में कोई मूल्य नहीं है, बल्कि मशीन, राजतन्त्र और आर्थिक व्यवस्था के पंजों में घुटते जा रहे आज के मानव के अस्तित्व-संकट और मूल्य-संकट की अनुभूति या चेतना है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि यह श्रेष्ठता का प्रमाण न होकर स्थिति का आंतरिक स्वीकार है। कार्य है, कर्तव्य नहीं। 'आधुनिकता' के विपरीत श्रद्धाश्रित अंधविश्वास है, जो अग्राह्य और अवांछनीय है।

(9) अंत में, आधुनिकता कोई निश्चित धारणा न होकर सक्रिय चेतन प्रवाह है, जो बहिर्जगत् में होनेवाले तत्कालीन परिवर्धन-परिवर्तन से नितान्त संयुक्त है। इसलिए यह देशगत है।

हमने ऊपर देखा कि ग्रीक परम्परा से विकसित विज्ञान-प्रसूत इस 'आधुनिकता' का विरोध प्रमुखतः ईसाई धर्म से रहा है। यह भी हमने लक्ष्य किया कि ईसाई धर्म श्रद्धा, सत्ता और एक ही धर्मग्रंथ (बाइबिल) पर आश्रित होने के कारण इतर विचार-प्रवाहों का निवारक ही रहा है, संयोजक नहीं। फलतः ग्रीक दर्शन, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तर्कपुष्टता और तर्कप्रेरित आधुनिकता से वह सामंजस्य स्थापित न कर सका।

भारतीय परम्परा के संदर्भ में 'आधुनिकता' का विवेचन करें, इसके लिए अनिवार्य है कि भारतीय परम्परा का भी एक निश्चित स्वरूप स्थिर

समाधान उस दृष्टिकोण मे नही है। समाधान के लिए व्यक्ति अनेक दार्शनिक मतों का (चाहे पूर्वी-पश्चिमी हों अथवा प्राचीन-आधुनिक) सहारा लेता है। यहाँ जब हम इसे अनुभव की रीति के रूप मे परिभाषित करते हैं तो हमारा दृढ विश्वास है कि इस रीति पर मस्तिष्क के वैचारिक प्रशिक्षण या सस्कारो का प्रभाव क्रियमाण रहता है। ईसाई धर्मसम्मत वस्तु की अनुभूति आज भी लोगों मे हो सकती है, पर वह आधुनिक नही है, क्योंकि उसमे विज्ञान आदि की 'प्रगति' का समावेश नही हो सकता। फलत आधुनिकता निश्चित समाधान-प्रदायी चेतना नही है, बल्कि 'आज' की अनुभूति है या चेतना है, जो ईसाई धर्म-निरपेक्ष है। इस 'आज' की अनुभूति का समाधान प्रचलित विचारधारा मे भी हो सकता है और प्राचीन विचार का पुनर्संस्कृत अथवा पुनर्जागृत रूप भी। काव्य मे एलियट, येट्स और गिन्सबर्ग को इसी आधार पर आधुनिक माना जा सकता है, नहीं तो कैथोलिक धर्म, थियोसोफी और वाममार्गी रहस्यवाद के उनके समाधान नये या आधुनिक नही हैं, पर आधुनिक समस्या या अनुभूति से सदर्भित और समन्वित होने के कारण 'प्राचीन' भी नही हैं। परिवर्तित परिस्थिति से सयुक्त होकर विचार या त भी तदनुकूल हो जाता है।

(6) आधुनिकता वैज्ञानिकता नही है। वैज्ञानिक क्षेत्र मे 'आधुनिक' अर्थ क्रम मात्र है अर्थात् ऐतिहासिकता। हिन्दी के कुछ लेखक रोब्ब ग्रिले दि फ्रेंच लेखको के भ्रमपूर्ण अनुकरण पर इसे भावरहित प्रतीति के रूप मे रिभाषित करते हैं, जो असगत और गलतफहमी पर आश्रित है। ग्रिले ने वस्तुपरक उपन्यासो मे विषयी (subject) के आरोपण का विरोध ता है, भावात्मकता का नही। आधुनिकता मे वैज्ञानिक चेतना सस्कारों रूप में ही समाविष्ट है, विज्ञानधर्मिता के रूप मे नहीं।

(7) आधुनिकता का दूसरा बहिरग रूप अनेक सामाजिक, आर्थिक र वैज्ञानिक धारणाओ एवं परिस्थितियो से सम्पृक्त है। प्रजातन्त्र, धर्म-रपेक्षता, औद्योगीकरण, जाति-विहीनता, मानव-समानता, नारी-साम्य, ान-श्रद्धा और भय, समाज-विघटन, मूल्य-संक्रमण आदि की परिस्थितियाँ

किया जाए। सुविधा के लिए हम भारतीय परम्परा के तीन रूप कल्पित कर लेते हैं। पहले में हम भारतीय चिन्ता (दर्शनादि) की चर्चा करेंगे, दूसरे में धर्म और समाज आदि की तथा तीसरे में जड़ीभूत चिन्तन अर्थात् रूढ़ि, रीति-रिवाज, अंधविश्वास आदि की। फिर भी एक बात मैं पहले ही स्पष्ट कर देना चाहूँगा कि भारतीय परम्परा का पश्चिमी विधि से ही पूर्णत: विवेचन करना शायद न्यायोचित नहीं होगा, क्योंकि भारत में धर्म, दर्शन-विचार और समाज-रचना का अलगाव दिखाई नहीं देता। धर्म में सब-कुछ की समाहिति प्राप्त है।

भारतीय दर्शन अथवा चिन्तन के बारे में पश्चिमी विद्वानों से अनुप्रेरित एक भ्रम यह फैला हुआ है कि यह दर्शन पूर्णत: रहस्यवादी है और इसमें बुद्धि अथवा तर्क को बिलकुल महत्त्व नहीं दिया गया है। फलतः यह जीवन से पराङ्मुख है। इसी आधार पर यह भी कहा जा रहा है कि आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि का इससे मेल नहीं बैठता, इसलिए भारतीय परम्परा अथवा चिन्तन 'आधुनिकता' (वैज्ञानिक दृष्टि) के आगमन का प्रतिरोधक सिद्ध हो रहा है। मैं इस मत का खण्डन दो आधारों पर करूँगा। पहली बात तो यह है कि भारतीय चिन्तन में बुद्धि-व्यापार को उचित महत्त्व दिया गया है और उसका समुचित प्रयोग भी हुआ है। परा और अपरा के विभाजन में अपरा इन्द्रिय-ज्ञानात्मक अर्थात् बुद्धि या तर्क ही है, जिसके द्वारा वस्तु का सम्यक् बाहरी ज्ञान प्राप्त किया जाता है। सांख्य तथा योग के अनुसार पच्चीस तत्त्वों की पृथक् प्रतीति अपरा के द्वारा ही सिद्ध होती है। परा अपरा अथवा बुद्धि के अतीत का ज्ञान है, जिसके द्वारा वस्तु का अतरंग या पच्चीस तत्त्वों में एक ही सूत्र की अनुभूति होती है। यह सामान्य पश्चिमी मनोवैज्ञानिक सहजानुभूति (Intuition) नहीं है, बल्कि कांट की बौद्धिक सूझ (Intellectual Insight) से मिलती-जुलती सहजानुभूति है, जो अपरा (बुद्धि) की शक्ति-विस्तार के पश्चाद्वर्ती है। उपनिषद्, वेदान्तादि षड्दर्शनों में सर्वत्र इस अपरा के उचित महत्त्व को स्वीकार किया गया है। न्याय-वैशेषिक और नव्य-न्याय में तो तर्क को अत्यधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। ग्रीक-दर्शन में

—ईश्वर पर आधृत है।

यदि भारतीय चिन्तन को इस व्यापक रूप में देखें तो तार्किक विचार-दर्शन बुद्धिवादक दृष्टिकोण (अनुपूरकता) से इसका पूर्ण विरोध—वैचारिक स्तर पर—दिखाई नहीं देता। हाँ, अंधीभूत विचार अर्थात् विचार के स्थिर अन्धविश्वासपरक रूप से विरोध हो सकता है, किन्तु यह विरोध विशेष नहीं उल्लेख्य है। अन्ततः, यह वर्चस्वी आधुनिकता से ही नहीं, भारतीय सन्त-चिन्तन से भी हो सकता है, जैसा यज्ञप्रवृत्ति और उपनिषद् के काल में रह चुका है। स्पष्ट है कि यह विरोध विचारात्मक न होकर विचार के सामाजिक रूढ़ रूप अर्थात् अन्धविश्वास और अज्ञानप्रद धारणाओं से होता है। जब दार्शनिक विचार जब सामान्य मानव समुदाय (समाज) तक पहुँचता है तो उसकी तार्किक बुद्धिगत विशेषताएँ छिप जाती हैं और केवल भावात्मक विश्वास पक्ष यहाँ प्रतिष्ठित हो जाती है। विचार धर्मशास्त्र, उपासना, रूढ़ि, रीति रिवाज या सामान्य विश्वास में परिवर्तित हो जब स्थिर रूप धारण कर लेते हैं। पूर्वोल्लिखित धर्मसिद्धान्त, मायावाद, भाग्यवाद आदि सिद्धान्त जड़ विश्वास के रूप में ही प्रगति-विरोधी हो सकते हैं। पर इनका विरोध उतना उग्र नहीं होता है, क्योंकि इनका मूलाधार पूर्णतः वैज्ञानिक है, जिसका सजीवीकरण कभी भी किसी समाज-नेता के द्वारा किया जा सकता है। यही कारण है कि इन सिद्धान्तों के जड़ीभूत रूपों के होते हुए भी भारत का सामान्य व्यक्ति 'नव्य' का आदर कर सका है, प्रगति का आकांक्षी रहा है। मुझे लगता है कि सामान्य व्यक्ति अपनी असफलता, निराशा, दुःखादि अभावात्मक स्थितियों में ही आश्वासन पाने और आत्मविश्वास को सुरक्षित रखने के लिए ही इनका प्रयोग करता है, अन्य स्थितियों में नहीं। भारतीय दर्शन के कर्मसिद्धान्त की निश्चितता (determinism) में [illegible] है। तभी तो मुक्ति की परम व्यक्ति-स्वातन्त्र्यपरक धारणा सम्भव हो सकी है।

भारतीय धर्म का स्वरूप भी तर्काश्रित प्रतीत होता है। न तो कोई एक [illegible] है और न यह एक संस्था के अधीन रहा है। इसकी मूल

योजना वर्ण और आश्रम पर आधारित है। वर्णों का विभाजन मानवतावादी भाव-दृष्टि से आज कितना ही हेय लगे, किन्तु वैज्ञानिक और बुद्धिगत तो है ही। इसी प्रकार आश्रम-व्यवस्था भी मानव-जीवन को आयु, शारीरिक शक्ति एवं मानसिक कार्य-सामर्थ्य के आधार पर बौद्धिक रीति से नियोजित करने का प्रयास है। इसी बुद्धि-आश्रय के कारण भारतीय धर्म में किसी एक ग्रन्थ की अनिवार्यता और एक ही सगुण ईश्वर की सर्वश्रेष्ठता भी अनुपस्थित है। कोई निश्चित कर्मकाण्ड भी पालनीय नहीं है। ऐसे धर्म के लिए (मेरी दृष्टि में) डार्विन, फ्रायड, मार्क्स और आइंस्टिन की आधुनिकता सहज सुपाच्य है, वैचारिक स्तर पर ही नहीं, भावनात्मक स्तर पर भी। क्योंकि भारतीय पौराणिकता भी इनके निष्कर्षों के पूर्णतः विरुद्ध प्रतीत नहीं होती। मनुष्य बन्दर (ape) से विकसित हुआ है, यह तथ्य भारतीय धर्म के लिए विस्फोटक सिद्ध न होकर सहनीय ही होगा। हनुमान, मकरावतार, नृसिंहावतार आदि की पौराणिकता और सांख्यीय तथा शैवागमीय मनुष्यपरक विकास-धारणा सिद्धान्ततः डार्विन के विरुद्ध नहीं है। फ्रायड के काम और अवचेतन का सिद्धान्त भी कामदेव और दार्शनिक काम में समाहृत हो सकेगा। काल की नैरन्तर्य की तथा शाश्वत वर्तमान की आइंस्टिन की धारणा तो भारतीय 'काल' के समान-सी ही है। अधिक विस्तार न कर संक्षेप में मैं यह कहना चाहूँगा कि वैज्ञानिक आधुनिकता का भारतीय धर्म के मूलाधार से इसलिए विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि भारतीय धर्म बौद्धिक व्यवस्था पर स्थित है, ईसाई मत के समान श्रद्धा और विश्वास पर टिका हुआ नहीं है। भारतीय धर्म में वर्ण-व्यवस्था के अलावा किसी भी क्षेत्र में निश्चितता और कट्टरता नहीं है। इसी उदार सर्वग्राहक वृत्ति के कारण यह अब तक—विपत्तियों के बावजूद भी—पनप रहा है। जिस धर्म ने शिव जैसे अबौद्धिक देवता को भी पचा लिया और उसे बौद्धिक बना लिया, उस धर्म के लिए बुद्ध्याश्रित आधुनिकता को पचाना तो बहुत आसान है। यह इसलिए भी सम्भव हो सकेगा, क्योंकि भारतीय धर्म और भारतीय दर्शन में कोई अन्तर नहीं है। यहाँ पश्चिम के समान दर्शन और

धर्म ने कभी हस्तक्षेप नहीं किया है। किसी वैज्ञानिक या दार्शनिकों को यहाँ दंडित नहीं किया गया है।

समाज के क्षेत्र में अवश्य कुछ विरोध हो सकता है और प्रायः हुआ भी है, क्योंकि समाज में विकास अपेक्षाकृत मन्द होता है तथा समाज का स्वरूप अधिकतर परम्परा से अनुशासित होता है। फिर भारत में यह विरोध उतना उग्र नहीं रहा है, जितना पश्चिम में हुआ है। इसीलिए भारतीय सामान्य व्यक्ति में आधुनिकता के प्रति उतनी तीव्र घृणा भी नहीं रही है। सामाजिक स्तर पर भारत के आधुनिकीकरण की भूमिका विवेकानन्द, राममोहनराय, महात्मा गांधी आदि के द्वारा पहले ही बनाई जा चुकी है। सामाजिक रूढ़ियों और रीति-रिवाजों से टकराव इन विचारकों में हुआ अवश्य है, पर इसका समाधान इतना शीघ्र हो गया कि यह नगण्य ही प्रतीत होती है। प्रजातन्त्र, औद्योगीकरण, शहरीकरण, मशीन आदि के प्रति विरोध या घृणा सामान्य भारतीय में प्राप्त नहीं होती, क्योंकि प्रजातन्त्र पंचायतों में सम्भव है। औद्योगीकरण प्रकृति का व्यवस्थित मानव-सुखदायी रूप है और मशीन आश्चर्यजनक आविष्कार है, धर्मविरुद्ध नहीं है। आर्थिक पिछड़ापन और धार्मिक उदारता दोनों ही सामान्य भारतीय को विज्ञान और औद्योगीकरण की ओर आकर्षित कर रहे हैं। यदि इस आधुनिकता को भारतीय मानस, परम्परा और धर्म से अनुशासित दृष्टिकोण से गृहीत किया गया तो पश्चिमी नव्य आधुनिकता की अभावात्मक गर्हित स्थिति से बचा जा सकता है। इस आधुनिकता को विरोध रूढ़ियों से है। भारतीय रूढ़ियाँ भी धर्माश्रित कम और लोकाश्रित अधिक हैं, इसलिए सर्वक्षेत्रीय न होकर विशेषक्षेत्रीय (Local) ही रही हैं। फलतः उनका भंजन भारतीय समाज में आसान है। इसीलिए इंदिरा गांधी प्रधानमंत्री हो सकी हैं और निरीश्वरवादी नेहरू जन-हृदय-सम्राट्।

निष्कर्ष रूप में भारतीय परम्परा में ऐसे बहुत कम तत्त्व हैं, जो निकता का विरोध करते हैं (अर्थात् उस विशिष्ट आधुनिकता का प्रति करें)। सम्भवतः इसीलिए मुझे लगता है कि सामान्य व्यक्ति के

धर्म में कभी मतभेद नहीं उठा है। किसी कोपरनिकस या गैलिलियो को यहाँ दण्डित नहीं किया गया है।

समाज के क्षेत्र में अवश्य कुछ विरोध हो सकता है और अज्ञात: हुआ भी है, क्योंकि समाज में विचार अन्धविश्वास बन जाता है तथा समाज का व्यवहार अधिकांशत: पौराणिकता से अनुशासित होता है। फिर भारत में यह विरोध उतना उग्र नहीं रहा है, जितना पश्चिम में हुआ है। इसीलिए भारतीय सामान्य व्यक्ति में आधुनिकता के प्रति उतनी तीव्र घृणा भी नहीं पनपी है। सामाजिक स्तर पर भारत के आधुनिकीकरण की भूमिका विवेकानन्द, राममोहनराय, महात्मा गाधी आदि के द्वारा पहले ही बनाई जा चुकी है। सामाजिक रूढ़ियों और रीति-रिवाजों की टक्कर इन विचारकों से हुई अवश्य है, पर इसका समाधान इतना शीघ्र हो गया कि वह नगण्य ही प्रतीत होती है। प्रजातन्त्र, औद्योगीकरण, शहरीकरण, मशीन आदि के प्रति विरोध या घृणा सामान्य भारतीय में प्राप्त नहीं होती, क्योंकि प्रजातन्त्र पंचायत के समकक्ष है। औद्योगीकरण प्रकृति का व्यवस्थित मानव-सुखदायी रूप है और मशीन आश्चर्यजनक आविष्कार है, धर्मविरुद्ध नहीं है। आर्थिक पिछड़ापन और धार्मिक उदारता दोनों ही सामान्य भारतीय को विज्ञान और औद्योगीकरण की ओर आकर्षित कर रहे हैं। यदि इस आधुनिकता को भारतीय मानस [illegible] और धर्म ने [illegible] से गृहीत

था, किन्तु मन पश्चिमी। यहीं से भारतीय बुद्धि वर्ग का वह द
खण्डता और निर्मूलता शुरू होती है जो आज तक उसके व्यक्तित्व
की तरह चिपकी हुई है। यह वर्ग मैकाले की चम्मच से पिलाए गए
और विचारों से पिण्ड नहीं छुड़ा सका है और न यह प्रयत्न ही क
आज भी यह उसी पश्चिम-गामी परम्परा का अनवरत पालन कर
सामान्य समाज से मानसिक रूप से पूर्णतः कटा हुआ, किन्तु त
व्यक्ति भारतीय परिवेश को उसी चश्मे से देख रहा है और प
समस्या की गलत अनुभूति के कारण उन्हीं पश्चिमी समाधानों क
पीट रहा है। भारतीय बुद्धि-वर्ग की बड़ी दयनीय स्थिति है, क
समाज और परिवार से ही विच्छिन्न नहीं है, भारतीय दार्शनिक,
और धार्मिक परम्परा से भी वियुक्त है, इतनी दीर्घ, विस्तृत और
पितृवंशता के होते हुए भी अनाथ है और उन पश्चिमी नुस्खों (आ
के परवर्ती रूप) का शिकार है, जो अन्धश्रद्धा, अविवेक और हीनत
फलस्वरूप प्राप्त किये जाते रहे हैं। स्पष्ट है कि समाधान की पि
गतता इन नुस्खों को भारतीय संदर्भ में निस्सार बना देती है।
प्रकार का मोह है, भ्रम है, जिसका पोषण ही हो रहा है, इनके द्वारा
'मोहभंग' शब्द की बारम्बार प्रयुक्ति के बावजूद भी।

इसीलिए यह वर्ग 'आधुनिक' नहीं है, पुराणपंथी है। ये पुराण प
लेखकों की अंग्रेजी में लिखी पुस्तकें हैं। यदि वह सच्चा भारतीय 'आ
होता तो स्वातन्त्र्योत्तर भारत के भौतिक निर्णय का आह्वान करत
अमेरिका के ह्विटमेन ने किया था, या विज्ञान और मशीन के आग
अन्य अमरीकी कवियों ने किया था। विकास के सपनों को भा
(sentimentality) कहकर उड़ा देना छिछलापन तो है ही, अज्ञ
है। क्या कारण है कि वह नेहरू के स्वर में स्वर मिलाकर बाँधों के
को नहीं देख सका। नेहरू भी इसी शिक्षित वर्ग की उपज थे। पर वे
णिक थे, इसलिए देश में विदेशी की और विदेश में परदेशी की अनुभ
... थे। इसीलिए उन्होंने सप्रयास 'इंडिया' की 'डिस्कवरी' की,

साहित्य पढ़ते ही मिल जाता है। इस रोग का निदान और उपचार केवल एक ही है कि सायास हम 'आधुनिक' हों, भारतीय आधुनिक। जैसे सार्त्र फ्रांस का आधुनिक है, गिन्सबर्ग धनबहुल अमेरिका का आधुनिक है और ओस्बोर्न 'गुडीगुडी' ब्रिटेन का, उसी प्रकार का भारतीय 'आधुनिक' भविष्य की संभावना है। नकल का बुखार नकल के बोध से जब उतरेगा, तभी सही आधुनिक दृष्टि प्राप्त होगी, ऐसी आशा है।

• • •